पाश्चात्य दर्शन का इतिहास

डा० शशधर दत्त



पाश्चात्य दर्शन का इतिहास

पाश्चात्य दर्शन का इतिहास

आधुनिक युग

शशधर दत्त, एम० ए०, डी० फिल०

अध्यापक दर्शनशास्त्र, प्रयाग विश्वविद्यालय

४४, जॉन्स्टनगंज



इलाहाबाद-३

शाखाएँ

बुकलैण्ड लिमिटेड
१, शंकर घोष लेन, कलकत्ता-६



बुकलैण्ड लिमिटेड
२११/१, कॉर्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता-६
४४, जॉन्स्टनगंज, इलाहाबाद-३

मूल्य पाँच रुपया मात्र

अगस्त, १९५२

श्री जानकीनाथ बसु, एम० ए०, बुकलैण्ड लिमिटेड, ४४, जॉन्स्टनगंज, इलाहाबाद-३ द्वारा प्रकाशित तथा बृजलाल पाण्डेय द्वारा युनाइटेड कर्मासियल प्रेस लिमिटेड, १ नं० राजा गुरुदास स्ट्रीट, कलकत्ता-६ में मुद्रित।

प्रयाग विश्वविद्यालय दर्शन-विभाग के अध्यक्ष

श्री अनुकूलचन्द्र मुखोपाध्याय

श्रद्धास्पदेषु

भूमिका

मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति का इतिहास उसके विचार और कल्पना की सार्थकता का ही इतिहास है। उस सार्थकता का परिचय हमें दर्शन में मिलता है। भारतीय भाषा के माध्यम से पाश्चात्य संस्कृति के मूलतत्वों का परिचय होने पर ही प्राच्य और पाश्चात्य की संस्कृतियों का समन्वय सम्भव है। इसलिये भारतीय भाषा में पाश्चात्य दर्शन के इतिहास की विशेष आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही हिन्दी में पाश्चात्य दर्शन के इतिहास की रचना की गई है।

इस रचना में विषय-वस्तु को सहजबोध्य करने की ओर विशेष दृष्टि रखी गई है। हिन्दी भाषा के अंग पर कील ठोंक कर पारिभाषिक शब्द लगाने की चेष्टा न कर उसके निजी प्राण-स्पन्दन के द्वारा ही पाश्चात्य विचार-सम्पद को प्रकाशित करने की चेष्टा मैंनें की है। पाठक के मन के साथ विचारधारा के क्रम-परिचय के मार्ग में सहसा आगन्तुक शब्दों की उग्रता कोई बाधा की सृष्टि न कर सके, इस पर भी मैंने विशेष ध्यान दिया है। जहां पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अनिवार्य है, वहां वैसा ही किया गया है। सर्वजनग्राह्य पारिभाषिक शब्दों की सृष्टि अभी नहीं हो सकी है, इसलिये शब्दों के चुनने में पसन्द और नापसन्द का प्रश्न अवश्य रह जाता है। अनेक क्षेत्रों में नवीन शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस प्रयोग में शब्दों के मूल अर्थों पर ही एकमात्र दृष्टि न रखकर, साहित्य के जीवन-प्रवाह में परिपुष्ट शब्दों का जो अर्थ

हमारे विचारों को रूप देता है, उस पर भी दृष्टि रखी गई है। सम्भव है कि इस पुस्तक में प्रयुक्त अनेक शब्द अनुमोदित न हों, परन्तु यदि सर्वानुमोदित शब्दकोष की प्रतीक्षा में रचना को स्थगित रखा जाय, तो भारतीय भाषा में दार्शनिक साहित्य का निर्माण कभी सम्भव ही न होगा।

परन्तु सरल बनाने के हेतु दर्शन के इस इतिहास की विषय-वस्तु को छिछला नहीं रखा गया है। जिससे विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को उनके पाठ्य का आवश्यकीय उपकरण इससे मिल सके, और साधारण शिक्षित व्यक्ति को भी इसका पाठ कर निराश न होना पड़े, दोनों की चेष्टा की गई है। यदि इस चेष्टा में कुछ सफलता मिली तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूंगा।

यह कहना बाहुल्य मात्र होगा कि इस दर्शन के इतिहास में सब दार्शनिकों के समग्र तथ्यों को एकत्रित कर कोई विराट् ग्रन्थ लिखने की चेष्टा मैंने नहीं की है। पाश्चात्य दर्शन के इस प्रकार के पूर्णांग इतिहास की हिन्दी में रचना इसके बाद कोई योग्यतर व्यक्ति करेंगे। अपने उद्देश्य के लिये जिन दार्शनिकों को मैंने प्रधान समझा है और उनके उन विचारों को, प्रथम-परिचय के लिये जिनको मैंने आवश्यक समझा है, ग्रहण कर, बाकी का परित्याग करना पड़ा है। प्रत्येक दार्शनिक के मतों की आलोचना करने के पहिले उनका जीवन-वृत्तान्त भी संक्षेप में लिपिबद्ध किया गया है। अत्यन्त संक्षिप्त होने पर भी इस वृत्तान्त को एक शुष्क जीवनी का रूप न देकर, उसमें उनके व्यक्तित्व को रूप देने की चेष्टा मैंने की है।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास के किसी विशेष ग्रन्थ पर यह रचना

अवलम्बित नहीं है। इसमें सभी प्रचलित ग्रन्थों से तथ्य संग्रह किये गये हैं। ऐसे इतिहास की पुस्तक में निजी कोई चीज देनी नहीं है; इसलिये ग्रन्थकार का ऋण इतना व्यापक है कि उसका कोई विशेष निर्देश सम्भव नहीं; परन्तु स्थान-स्थान पर यदि पाठक को किसी विशेष दृष्टिकोण पर आधारित कोई अभिमत दीख पड़े, तो वह ग्रन्थकार का अपना है और उसकी जिम्मेदारी भी ग्रन्थकार की ही है। पुस्तक की भाषा पर अपना अभिमत प्रकट करने के लिये तथा उत्साह प्रदान करने के लिये, प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डाक्टर श्री धीरेन्द्र वर्मा का ग्रन्थकार विशेष रूप से आभारी है।

पाश्चात्य दर्शन के इस इतिहास को तीन खण्डों में प्रकाशित करने की मेरी इच्छा है। इसके प्रथम खण्ड में प्राचीन तथा मध्ययुग का समावेश होगा, दूसरे खण्ड में आधुनिक युग का और तीसरे खण्ड में समसामयिक युग का समावेश होगा। पाठ्य पुस्तक के लिये अधिक आवश्यकीय होने के कारण दूसरे खण्ड को पहिले प्रकाशित किया जा रहा है। बाकी खण्डों को शीघ्र ही मुद्रणालय में भेजा जायगा।

विज्ञ पाठकों से अनुरोध है कि पुस्तक के सम्बन्ध में अपना अभिमत भेजकर तथा त्रुटियों को ज्ञात कराकर ग्रन्थकार को कृतज्ञ करें।

अन्त में मैं इस पुस्तक के प्रकाशन का भार ग्रहण करने के लिये कलकत्ते के सुप्रसिद्ध बुकलैण्ड लिमिटेड के अधिकारियों को भी धन्यवाद देता हूं।

दर्शन-विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय

—शशधर दत्त

विषयानुक्रमणिका

आधुनिक युग

पहिला अध्याय

प्रारम्भिक

सुविधा के लिये मानव-सभ्यता के इतिहास को चार भागों में विभक्त किया गया है--पहिला प्राचीन युग, दूसरा मध्ययुग, तीसरा आधुनिक युग और चौथा सम सामयिक युग। प्रत्येक युग की अपनी एक विशेषता है और उस युग की दार्शनिक विचारधारा में उस विशेषता ने रूप ग्रहण किया है।

पाश्चात्य दर्शन का प्राचीन युग है, यूनानी दर्शन। शिव और सुन्दर, ये दोनों तत्व यूनानी दार्शनिक विचारधारा के प्राणस्वरूप हैं। इस युग के दर्शन की एक और विशेषता यह है कि दर्शन के एक-एक विद्यापीठ को केन्द्रित कर इसका प्रसार हुआ है। अर्थात् गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा दार्शनिक विचार की विभिन्न धाराएं विकसित हुई हैं। केवल यही नहीं, मानव-जीवन के सम्बन्ध में यूनान की धारणा और यूनानी जाति का स्वरूप, दोनों यूनानी दर्शन में मूर्त हैं।

मध्ययुग का पाश्चात्य दर्शन मुख्यतः धर्मानुशासन मात्र था। गिरजों के निर्देश और धर्मयाजकों की शास्त्र-व्याख्या ने ही दर्शन का स्थान ले

लिया था। मनुष्य-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का अप्रतिहत शासन था औ विश्वास तथा परम्परा ने मानव-बुद्धि को जकड़ रखा था। स्वतन्त्र विचार का कोई स्थान न था, बल्कि उसको नास्तिकता का लक्षण समझा जाता था। इस युग में दार्शनिक विचार का अस्तित्व नहीं था, ऐसा नहीं, परन्तु वास्तविक दर्शन की सृष्टि इस युग में नहीं हुई। क्योंकि बिना स्वतन्त्र विचार के दर्शन का अस्तित्व ही सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त मध्य-युग का यह दर्शन कुछ धर्मयाजकों की व्यक्तिगत सम्पत्ति थी; इसमें न तो समाज-जीवन के सुख-दुःख की समस्याओं की बात थी और न यह जातीय मनोभावों को ही व्यक्त करता था। कुछ बनावटी समस्याओं को लेकर, लेखनी-युद्ध के अनावश्यक प्राचुर्य ने इस युग की विचारशक्ति को पंगु बना रखा था। इसका फल यह हुआ कि मनुष्य के मन में एक निराशा और उदासीनता की भावना छा गई। केवल न्यायशास्त्र के तर्क से मनुष्य की आशा और आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हुई। जो तत्व मनुष्य के आन्तरिक सम्पद का कोई समाचार नहीं दे पाता, वह तत्व नहीं, एक मिथ्या वाक्जाल मात्र है। इसलिये इस निराशा और उदासीनता के बीच होकर मनुष्य ने पृथ्वी को एक नयी दृष्टि से देखना सीखा और उसके अन्तर्जीवन के द्वन्द्व और बहिर्प्रकृति के अनन्त रहस्य ने उसके जीवन में एक नव-चेतना का संचार किया।

इतिहास के तीन विशिष्ट आन्दोलनों के बीच इस मानव-चेतना ने आत्म-प्रकाश किया। पहिले ही कहा जा चुका है कि मध्ययुगीन पाश्चात्य विचार-धारा में साहित्य या दर्शन का जीवन के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था; परन्तु प्राचीन अथवा यूनानी साहित्य और दर्शन ने जीवन को केन्द्रित कर ही कल्याण और सुन्दर की आराधना की थी। इसलिये मनुष्य में यूनानी संस्कृति

के साक्षात्कार की इच्छा पैदा हुई। दूसरी ओर इस विचार-स्वतन्त्रता ने धर्म-जीवन में भी मानसिक मुक्ति का दावा किया। जो समाज व्यवस्था, धर्मशास्त्र और धर्म-विश्वास पर आश्रित थी, मनुष्य ने अब उसको अनुभव और युक्ति के कसौटी पर जांचना चाहा। इसके अतिरिक्त बहिर्प्रकृति के साथ नित्य नवीन परिचय ने मनुष्य में एक आत्म-विश्वास की प्रतिष्ठा की और उसके फलस्वरूप, जल, स्थल और आकाश में जो नये-नये आविष्कार हुए उन्होंने पृथ्वी के सम्बन्ध में इतने दिनों के ज्ञान और धारणा की भित्ति को ही हिला दिया। गणित, ज्योतिष, भूगोल, शरीर-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान, जीव-विज्ञान प्रभृति विषयों में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया। इन क्रान्तिकारी परिवर्तनों में प्रथम स्थान प्राप्त है कोपरनिकस के मतवाद को, जिन्होंने बताया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। ईसाई धर्म के अनुसार यही मत प्रचलित था कि सूर्य तथा अन्यान्य ग्रह पृथ्वी को केन्द्रित कर आकाश में प्रदक्षिणा करते हैं। कोपरनिकस के नवीन मतवाद ने मनुष्य की अभिज्ञता और उसके धर्म-विश्वास के बीच एक द्वन्द्व की सृष्टि की। इस द्वन्द्व में धर्म-विश्वास की पराजय हुई और विजयी मानव-अभिज्ञता ने नाना प्रकार के आधुनिक विज्ञानों को जन्म दिया।

इसलिये हम देखते हैं कि दो विपरीतमुखी युगधर्मों को आश्रित कर, पाश्चात्य दर्शन के आधुनिक युग का आरम्भ हुआ--गिरजानुशासन का क्रमविलोप और नवविज्ञान का क्रमवर्द्धनशील प्रभाव। इस युग की प्रकृति है, वैज्ञानिक मनोवृत्ति, व्यक्तिचेतनता तथा अन्तर्जातीयता। आधुनिक युग के पाश्चात्य दर्शन में भी यह युग-धर्म प्रतिविम्बित है। जीवन की समस्याओं के वास्तविक समाधान के लिये अन्धविश्वास का परित्याग कर स्वतन्त्र विचार

का आश्रय लेना पड़ता है। इसलिये एक ऐसी दर्शन-पद्धति की आवश्यकता हुई, जिसके द्वारा निश्चयपूर्वक सत्य का आविष्कार किया जा सके।

आधुनिक दर्शन की सूचना

इस स्वतन्त्र-विचार और आत्मविश्वास से अनुप्राणित होकर यूरोप के विभिन्न देशों के कुछ मनीषियों ने आधुनिक पाश्चात्य दर्शन की नींव डाली। इनमें प्रधान थे—इटली के ब्रूनो, इंगलैंड के बेकन तथा हाब्स, और फ़्रांस के देकार्त।

गिओर्डानो ब्रूनो (Giordano Bruno 1548-1600)

[इटली में नेपल्स नगर के निकट लोला नामक स्थान में सन् १५४८ ई० में ब्रूनो का जन्म हुआ। असाधारण सत्यनिष्ठा और सत्य की व्याकुल जिज्ञासा ब्रूनो के चरित्र की विशिष्ठताएं हैं। अभिभावकों की इच्छा से चौदह वर्ष की अवस्था में ब्रूनो को धर्मयाजक का पेशा ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत होना पड़ा। परन्तु इसी बीच नव-विज्ञान की वार्ता उनके मर्मस्थल तक पहुंच चुकी थी और मध्ययुगीन धर्मविश्वास के प्रति उनके अन्दर एक विराग की भावना पैदा हो गई थी। बिना किसी कुण्ठा के वह अपने मत का प्रचार करने लगे। प्रचलित धर्म के विरोधी मत-प्रचार के कारण और फलस्वरूप उनको एक नगर से विताड़ित होकर दूसरे नगर तथा इसी प्रकार नगर-नगर घूमकर जीवन बिताना पड़ा। कहीं तो छोटे-छोटे लड़कों की अध्यापकी कर और कहीं छापेखाने में काम कर ब्रूनो को जीविका-निर्वाह करना पड़ा। इस समय अपने पाण्डित्य की ख्याति के कारण पैरिस, ऑक्सफोर्ड, विटेनवर्ग

आदि विश्वविद्यालयों में अध्यापन का सुयोग उन्हें प्राप्त हुआ था और फ्रांस के सम्राट् तृतीय हेनरी और इंग्लैंड की सम्राज्ञी एलिजाबेथ की सभाओं में भी वे निमन्त्रित किये गये थे, परन्तु अपने नवीन मतवाद के कारण प्रत्येक जगह उन्हें छोड़ना पड़ा। इसके बाद वेनिस शहर को प्रत्यागमन करने पर वह वहां बन्दी किये गये और ईसाई धर्ममत के विरुद्ध प्रचार करने के कारण १६०० ई० में रोम नगरी में उन्हें जिन्दा जलाया गया।]

प्रचलित ईसाई धर्म के अनुसार छः हजार वर्ष पहले ईश्वर ने इस पृथ्वी की सृष्टि की थी, और सृष्टिकर्त्ता के बैठने का सिंहासन था महाशून्य में यरूशलम के ठीक ऊपर। इस मत के अनुसार पृथ्वी स्थिर है और उसको केन्द्रित कर सूर्य, चन्द्र और तारागण आकाश में प्रदक्षिणा करते हैं। सौरकेन्द्रिक जगत का कोपरनिकस का नया मत तथा अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों ने ब्रूनो की मनोवृत्ति को एक वैज्ञानिक सांचे में ढाल दिया था, और इसलिये प्रचलित धर्ममत को ग्रहण करने में असमर्थ होकर उन्होंने वैज्ञानिक सत्य और धर्ममत के बीच एक समन्वय और संगति की चेष्टा की। जिस नियम को आश्रित कर प्रकृति की असंख्य घटनाएं घटित हो रही हैं और जिसके आधार पर मनुष्य उनकी व्याख्या करने में समर्थ हैं, धर्म और दर्शन की व्याख्या में भी उस नियम के साथ संगति होनी चाहिये। ब्रूनो ने यही चेष्टा की।

ब्रूनो ने कहा कि जैसे विज्ञान की दृष्टि में जगत की सीमा का निर्देश करना असम्भव है, उसी प्रकार दार्शनिक की दृष्टि से ईश्वर की सीमा का निर्देश करना भी असम्भव है। ईश्वर अनन्त है और विश्व भी अनन्त है। ब्रूनो के मतानुसार धर्मशास्त्रों में सृष्टिकर्त्ता से जो बोध होता है, ईश्वर उस प्रकार के सृष्टिकर्त्ता नहीं हैं। अर्थात् सृष्टि के बाहर रहकर किसी विशेष

समय पर सृष्टिकर्त्ता ने इस सृष्टि की रचना नहीं की है। ईश्वर विश्वशक्ति के प्राणकेन्द्र स्वरूप हैं। इसी ईश्वरीय शक्ति को आश्रित कर विश्व बहु दिशाओं में प्रकाशमान है। ईश्वर जीव-जगत के बाहर नहीं, ईश्वर के भीतर ही जीव-जगत की स्थिति, गति तथा परिणति है। इसलिये विश्व के सब कुछ में ईश्वर विराजमान हैं और ईश्वर ही एकमात्र सत्य वस्तु है। इसको सर्वेश्वरवाद कहा जा सकता है।

परन्तु दूसरी ओर ब्रूनो ने जगत की अनेक और विचित्र वस्तुओं की बहुलता और विचित्रता की व्याख्या करने की भी चेष्टा की है। यदि ईश्वर ही एकमात्र सत्य वस्तु है, तो इन विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति कैसे हुई और प्रत्येक पदार्थ ने अपनी-अपनी विशिष्ठता की रक्षा किस प्रकार की। अर्थात् यह निश्चय ही स्वीकार करना पड़ेगा कि बहु के साथ एक का कुछ संबंध है। इस समस्या का विचार कर ही ब्रूनो ने कहा कि यह विश्व असंख्य पृथक् पदार्थों से बना हुआ है। प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे से भिन्न है। एक से दूसरे की उत्पत्ति या एक की दूसरे में परिणति सम्भव नहीं है। ये असंख्य परम पदार्थ (Ultimate Entities) एक साथ जड़ और चेतन दोनों ही हैं। ब्रूनो ने इनका नाम दिया है चेतन परमाणु (Monads)। जड़-जगत, उद्भिज-जगत तथा प्राणी-जगत सभी इन चेतन परमाणुओं के द्वारा संगठित हैं। इसके अतिरिक्त ब्रूनो के मतानुसार यावतीय पदार्थ ईश्वर में निहित है। ब्रूनो ने एक के साथ बहु के सम्बन्ध को स्वीकृत कर लिया है, और इस सम्बन्ध के स्पष्टीकरण के लिये कहा है कि प्रत्येक चेतन परमाणु अपनी विशिष्ठता को रखकर अपने से बड़े चेतन परमाणु के अन्दर अपनी जगह बना लेता है। यह कहना अनावश्यक है कि इस क्रम को स्वीकार कर लेने पर पूर्वोक्त चेतन

परमाणुओं के पृथकत्व और परमत्व की रक्षा सम्भव नहीं। परन्तु हमें स्मरण रखना होगा कि ब्रूनो कोई युक्ति-सिद्ध सम्पूर्णांग दर्शन की रचना नहीं कर गये हैं, उन्होंने केवल इसकी भित्ति की स्थापना की है।

पठनीय

A History of Philosophy—Thilly.
A Students' History of Philosophy—A. K. Rogers.
Giordano Bruno—Mc Intyre.

फ्रान्सिस बेकन (Francis Bacon 1561-1626)

[बेकन का जन्म सन् १५६१ ई० में लन्दन शहर में हुआ था। केम्ब्रिज के ट्रिनीटी कालेज में प्रवेश कर तीन वर्ष अध्ययन करने के बाद, पाठ्यक्रम तथा शिक्षा-पद्धति के प्रति बेकन की अश्रद्धा हो गई। उसी समय उनके मन में यह बात आई कि शब्दों को लेकर निरर्थक तर्क करने से दर्शनशास्त्र की उन्नति की कोई सम्भावना नहीं। जब तक मनुष्य का मन ज्ञान से आलोकित नहीं होगा, तब तक दर्शन की कोई सार्थकता नहीं है। अठारह वर्ष की आयु में पितृहीन होकर बेकन को दरिद्रावस्था का भोग करना पड़ा। परन्तु सहायहीन अवस्था में भी अपने अध्यवसाय और उच्चाकांक्षा के कारण वह हताश नहीं हुए। वकालत के पेशे से बेकन ने धीरे-धीरे ख्याति प्राप्त की और बाईस वर्ष की अवस्था में वह पार्लियामेंट के सदस्य हो गये। बेकन की कार्यशक्ति असाधारण थी। वह एक सुवक्ता, क्षमताशील लेखक तथा वैज्ञानिक ज्ञान-विस्तार के पथ-प्रदर्शक थे। उनके पाण्डित्य और कार्य-

दक्षता ने उनको उन्नति के ऊंचे शिखर पर पहुंचाया। वह पहले एटर्नी-जेनरल, फिर लार्ड चान्सलर और व्हाई काउन्ट हुए।

कर्म दक्ष और पण्डित तो बेकन थे, परन्तु उनका नैतिक जीवन प्रशंसनीय न था। अपव्यय और अर्थलिप्सा उनके चरित्र के कलंक स्वरूप हैं। परन्तु जीवन के अन्त तक वह ज्ञानान्वेषण में, और किस प्रकार से मानव-कल्याण के हित में इस ज्ञान का प्रयोग किया जा सकता है, इस प्रयास में लगे हुए थे। विज्ञान के क्षेत्र में सुप्रसिद्ध रॉयल सोसाइटी की स्थापना में उनकी चेष्टा का एक मुख्य स्थान है। सन् १६२६ ई० में बेकन की मृत्यु हुई।]

बेकन के मतानुसार दर्शनशास्त्र से मनुष्य ने जो आशा की थी, वह आशा उसकी पूरी नहीं हुई। वास्तवहीन शब्द-संयोग से दर्शन की सम्पद-वृद्धि नहीं होती। दर्शन का मूल उद्देश्य है, मानवसमाज का कल्याण साधन। प्राकृतिक नियमों के रहस्यों का आविष्कार कर प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व करना होगा। प्राकृतिक आविष्कार का प्रयोग मानव समृद्धि के सहायक के रूप में करना होगा, परन्तु पुरातन दर्शन-पद्धति से यह सम्भव नहीं; इसके लिये नवीन पद्धति की आवश्यकता है।

इस नई पद्धति का मूल-तत्व यह है कि अनुमान के ऊपर निर्भर रहकर वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। चूंकि धर्म पुस्तक में यह लिखित है, या किसी प्रभावशाली व्यक्ति ने यह कहा है, इसलिये यह सत्य है—यह युक्ति यथार्थ युक्ति नहीं है, यह अंधविश्वास का ही दूसरा नाम है। बेकन के मतानुसार ज्ञान-संचय का प्रथम सोपान है प्रत्यक्षानुभूति। इन्द्रियों के द्वारा परीक्षा करने के बाद ही किसी वस्तु को सत्य माना जाना चाहिये। काल्पनिक भित्ति पर सत्य की प्रतिष्ठा असम्भव है। जो इन्द्रियगोचर

नहीं है, वही काल्पनिक है। दर्शन यदि सत्य का अनुसन्धान करना चाहे तो उसे वैज्ञानिक पद्धति का आश्रय लेना होगा। हमारा ज्ञान नाना प्रकार के संस्कारों से आच्छन्न है, इसलिये सत्य का स्वरूप हम जान नहीं पाते। पूर्ववर्ती दार्शनिकों की विचारधारा संस्काराच्छन्न होने के कारण सत्य का ज्ञान नहीं हो सका है, हमें केवल उसके विकृत रूप का ही परिचय मिला है। इसलिये दार्शनिकों को संस्कार-मुक्त रहना पड़ेगा।

बेकन के मतानुसार ये संस्कार चार प्रकार के हैं, जिनको उन्होंने विकृति (Idols) का नाम दिया है।

पहिली है "मानवीय विकृति" (Idols of the Tribe); मनुष्य मात्र के मन में कुछ सहजात संस्कार हैं। यह मानव-मन का साधारण धर्म है। इस संस्कार के कारण सत्यानुसंधान के पहिले ही मनुष्य सत्य के स्वरूप का निश्चय कर लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि जो सत्य है, उसे हम देख नहीं पाते; जो हम देखना चाहते हैं, उसी को हम देखते हैं।

दूसरी है "व्यक्तिगत विकृति" (Idols of the Cave)। प्रत्येक मनुष्य के कुछ निजी संस्कार हैं; ये उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति में शामिल हैं। व्यक्ति विशेष का स्वभाव संगठन और उसका सामाजिक परिवेष्टन उसके संस्कारों के उत्पत्ति स्थल हैं। ये ही कूपमण्डूकता की सृष्टि करते हैं।

तीसरी है "व्यवहारगत विकृति" (Idols of the Market Place)। अपनी भाषा में हम जिन शब्दों का व्यवहार करते हैं, वे सबके सब बिलकुल ठीक अर्थ को ज्ञापित करते हैं, ऐसा नहीं है। परन्तु बिलकुल ठीक न होने पर भी बहुजन-गृहीत होने के कारण वे स्थायी बन गये हैं।

जब हम किसी भाव को यथोचित् भाषा के द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं, तो वे ही शब्द विकृत अर्थ के कारण बन जाते हैं ।

चौथी है "परिकल्पित विकृति" (Idols of the Theatre)। पुराकाल से कुछ परिकल्पित दार्शनिक सिद्धान्तों को हम सत्य मानते चले आ रहे हैं । विचार या विश्लेषण की कसौटी पर हमने इनकी जांच नहीं की है । जांच करने पर इनकी विकृति का पता लग जायगा ।

बेकन के अनुसार मन को उपरोक्त संस्कारों से मुक्त करने के बाद ही सत्य का अन्वेषण करना चाहिये, नहीं तो सत्य पर तो आवरण पड़ जायगा, और मिथ्या तथा भ्रान्ति ही हमारे ज्ञान के उपादान बन जायँगे । इसके अनन्तर बेकन ने ज्ञानार्जन की वैज्ञानिक पद्धति का निर्देश किया है । इस पद्धति की मूल बात है पर्यवेक्षण । इस पर्यवेक्षण की कई सीढ़ियां हैं । पहले पर्यवेक्षित घटनाओं को एकत्रित करना होगा । उसके बाद उनका तुलनात्मक विश्लेषण करना होगा । इन पर्यवेक्षित घटनाओं को ज्यों-त्यों ग्रहण नहीं किया जा सकता है । उपयुक्त परीक्षा के बाद ही इनको ग्रहण किया जा सकता है । इस पर्यवेक्षण के लिये केवल इन्द्रियों पर निर्भर रहने से काम न चलेगा, यन्त्रादि की सहायता भी लेनी होगी । कारण यह है कि हमारी इन्द्रियां सब समय ठीक-ठीक काम नहीं करतीं और ग्रहण करने की इनकी क्षमता भी सीमित है । बेकन के मतानुसार प्रकृति के प्रत्येक गुण के पीछे अवश्य ही कोई न कोई मूल नियम या कारण है और यदि इस मौलिक तत्व का आविष्कार किया जा सके तो उस वस्तु या गुण के स्वरूप को हम जान सकते हैं । इस प्रकार घटना विशेषों का प्रत्यक्षीकरण और उनकी विशिष्टताओं से परिचित होने पर हमें यह देखना होगा कि वे घटनाएं किसी विशेष नियम

पर आश्रित हैं या नहीं अथवा किसी व्यापक नियम के वे अन्तर्गत हैं या नहीं। इस तरह बेकन की वैज्ञानिक-पद्धति का लक्षण है, विशिष्ट घटनाओं का प्रत्यक्ष कर उनके बीच से एक सार्विक या साधारण नियम का आविष्कार कर सकना। इसी पद्धति को "आगमन" या "सामान्यमुखी" पद्धति (Induction) कहते हैं।

बेकन की उक्त आगमन पद्धति सम्पूर्ण मूलरहित नहीं है। क्योंकि आगमन पद्धति में कल्पितार्थ (Hypothesis) की प्रयोजनीयता का वह सम्यक् अनुभव नहीं कर सके। उनकी यह धारणा थी कि तथ्यों के यथोचित् विन्यास से कल्पितार्थ सहज ही निकल आता है। परन्तु कार्य-क्षेत्र में ऐसा नहीं होता। वैज्ञानिक पद्धति में कल्पितार्थ की नितान्त आवश्यकता है और यह कल्पना तथा विचारशक्ति दोनों पर आश्रित है। इसलिये साधारण व्यक्ति के लिये इसका निकालना सहज नहीं। कल्पितार्थ आविष्कार करने की कोई विधिबद्ध क्रिया भी नहीं है। इसलिये तथ्यों को एकत्रित कर उनके विन्यास के द्वारा ही हम किसी सिद्धान्त को पहुंच सकते हैं। ऐसा नहीं। इसके अतिरिक्त तथ्य-संग्रह के पहिले भी कल्पितार्थ की प्रयोजनीयता है। आनुमानिक प्रयोजन की कोई धारणा न होने से तथ्य-संग्रह व्यर्थ हो जाता है।

बेकन को वैज्ञानिक पद्धति का आकिष्कारक भी कहा जाय तो भी यह निःसन्देह है कि वे ही दर्शन में वैज्ञानिक पद्धति के प्रथम प्रयोग करने वाले हैं।

जो दर्शन वैज्ञानिक तथ्यों पर प्रतिष्ठित नहीं है, बेकन के मतानुसार उसको दर्शन का नाम नहीं दिया जा सकता। अर्थात् जिसको अतिविज्ञान (Metaphysics) कहा जाता है, बेकन के मतानुसार वह अवास्तव

अभिमत मात्र है। विशिष्ट विज्ञानों के सिद्धान्तों से सार्वभौमिक तत्वों को ढूंढ़ निकालना और उनकी आलोचना करना ही दर्शन का काम है। बेकन के मतानुसार ये विज्ञान तीन हैं--यथा, इतिहास, काव्य और दर्शन। ये मन की तीन वृत्तियों को तीन भिन्न रूपों में प्रकाशित करते हैं। स्मरण-शक्ति से इतिहास का जन्म है, कल्पना-शक्ति से काव्य का जन्म है और विचार-शक्ति से दर्शन का जन्म है। इस दर्शन को बेकन ने तीन भागों में विभक्त किया है। इनमें से एक अतिविज्ञान है, जिस शास्त्र में अन्तिम कारण की आलोचना होती है। बेकन ने धर्मशास्त्र और दर्शन दोनों की पृथकता को स्वीकार किया है। पहिला निर्भर है विश्वास के ऊपर और दूसरा युक्ति पर। धर्मशास्त्र की आलोचना में बेकन अतीन्द्रियवादी है। परन्तु विज्ञान की आलोचना में वह वास्तववादी हैं। क्योंकि उनके मतानुसार धर्मशास्त्र (Theology) विज्ञान नहीं है। इस प्रकार यद्यपि बेकन ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों की पृथकता को स्वीकार किया है, परन्तु जो प्रत्यक्ष बहिर्भूत है, उसको सम्पूर्ण रूप से अस्वीकार नहीं किया है।

पठनीय

बेकन लिखित—Works of Francis Bacon--Edited by Spedding, Ellis and Health.

सहज प्रवेशिका--Letters and Life of Bacon--James Spedding.

The Story of Philosophy—Will Durant.

आलोचनात्मक--English Philosophers and Schools of Philosophy--James Seth.

थॉमस् हाब्स् (Thomas Hobbes 1588-1679)

[इंग्लैंड के वेस्टपोर्ट नामक शहर में १५८८ ई० में हाब्स् का जन्म हुआ। उनके पिता धर्मयाजक थे। उनके चचा ने ही उनको पढ़ाया-लिखाया। स्थानीय धर्मयाजकों से लड़-झगड़ कर हाब्स् के पिता निरुद्देश्य हो गये और फिर कभी न लौटे। हाब्स् की स्कूली शिक्षा समाप्त होने पर उनके व्यवसायी चचा ने ही उनको ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्ति के लिये भेजा। ऑक्सफोर्ड का अध्ययन समाप्त करने पर हाब्स् डिव्हनशायर के अर्ल, विलियम कैवेन्डिश के पास गृहशिक्षक और कर्मचारी के रूप में नियुक्त हुए। कैवेन्डिश के निजी पुस्तकालय में हाब्स् का यूनानी साहित्य के साथ घनिष्ठ परिचय हुआ और मूल यूनानी पुस्तकों से अंग्रेजी में उन्होंने कुछ अनुवाद किया था। कैवेन्डिश परिवार के साथ सम्बन्ध-विच्छेद न करते हुए भी, कुछ समय तक, हाब्स् ने बेकन के सम्पादक के रूप में काम किया था। प्रारम्भिक जीवन में हाब्स् साहित्य के ही अनुरागी थे। आकस्मिक रूप से वह ज्यामिति की ओर आकृष्ट हुए और उसकी विचार-पद्धति से वह मुग्ध हुए। वह इस सिद्धान्त पर उपनीत हुए कि सभी विचार-पद्धति गणितिक हैं। इसी प्रकार अकस्मात् ही वह संवेदन (Sensation) और उसकी प्रकृति के सम्बन्ध में आकृष्ट हुए। वह इस निश्चय पर पहुंचे कि गतिशीलता ही संवेदन का कारण है। हाब्स् ने इंगलैंड के राजा प्रथम चार्ल्स का पक्ष लेकर पार्लियामेन्ट के विरुद्ध एक राजनीतिक पुस्तक की रचना की थी और फिर वह फ्रांस को भाग गये। इसी समय देकार्ते तथा अन्य यूरोपीय दार्शनिकों से

उनका साक्षात् हुआ। इसी समय "लेवियाथन" नामक विख्यात राजनीतिक दर्शन की पुस्तक की रचना उन्होंने की। हाब्स् स्वाधीन मतावलंबी, परन्तु भीरु प्रकृति के थे। द्वितीय चार्ल्स के राजा होने पर हाब्स् लन्दन को लौट गये और राजकोष से नियमित रूप से उनको वृत्ति मिलने लगी। १६७९ ई० में हाब्स् की मृत्यु हुई।]

हाब्स् के मतानुसार युक्ति के द्वारा कारण से कार्य और कार्य से कारण को पहुंचने का नाम ही दर्शन है। दार्शनिक विचार का अर्थ है अभ्रान्त विचार। कुछ धारणाओं को एकत्रित या पृथक् करना ही इस विचार का लक्षण है। जो हमारे विचार का विषय है, वह केवल निराकार भावना नहीं हो सकती है, वह विभाज्य है, इसलिये वास्तव पदार्थ है। मन, ईश्वर, देव-दूत आदि वास्तव नहीं, ये प्रत्यक्षीकरण के विषय नहीं, ये हैं विश्वास के विषय। ये विषय धर्मशास्त्र के अन्तर्गत हैं, दर्शन में इनके लिये कोई स्थान नहीं। हाब्स् के मतानुसार पदार्थ-विद्या और नीति-विज्ञान, दोनों ही प्रत्यक्ष विज्ञान (Empirical Science) हैं, वाह्य जगत की वस्तु ही इनकी आलोचना के विषय हैं। पदार्थ-विद्या की आलोचना के लिये जैसे वहिर्दृष्टि का प्रयोजन है, वैसे ही नीति-विज्ञान की आलोचना के लिये अन्तर्दृष्टि का प्रयोजन है। अर्थात् ज्ञान का विषय एक मात्र वही है, जो प्रत्यक्ष की सीमा के अन्तर्गत है।

स्पष्ट है कि हाब्स् का ज्ञानतत्व जड़वादी है। उनके मतानुसार मनुष्य के बौद्धिक जीवन की भित्ति है, अन्तर्दर्शन या मस्तिष्क की क्रिया की अनुभूति। विचार का अर्थ ही है अनुभूति। असंख्य अनुभूतियों अथवा संवेदनों से ही हमारा जीवन संगठित है। इन संवेदनों के स्थायित्व का नाम ही स्मृति है।

मध्ययुगीय दार्शनिकों के इस विचार का, कि संवेदन मन के अन्दर बाहरी वस्तुओं का प्रतिबिम्ब है, हाब्स् ने इसका खंडन किया। किसी गतिमान वस्तु की किसी अन्य वस्तु पर क्रिया जब स्नायु द्वारा वाहित होकर मस्तिष्क तक पहुंचती है, तो उसी को संवेदन कहते हैं। इसलिये इस मत के अनुसार संवेदन वस्तुगत (Objective) नहीं है, बल्कि आत्मगत (Subjective) है। इन्द्रियों से हम जो प्रत्यक्ष या अनुभव करते हैं, वे बाहरी वस्तु नहीं है, वे हमारे ही मस्तिष्क जात हैं।

मानस नाम का कोई विशिष्ट पदार्थ नहीं है। वह मस्तिष्क या स्नायु की क्रिया मात्र है। मन अवयवहीन तो नहीं है, परन्तु वह स्थूल न होकर सूक्ष्म है। मन को सूक्ष्म-शरीर कहा जा सकता है, इतना सूक्ष्म, कि वह हमें प्रत्यक्ष नहीं दीख सकता। परन्तु प्रत्यक्षगोचर न होने के कारण वह निराकार नहीं है। पशु और मानव में भी जो पार्थक्य है, वह मानसिक सम्पद में नहीं है, वह भाषा और वाक्शक्ति में है। पशु और मानव दोनों ही सहजात प्रवृत्तियों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। विशुद्ध युक्ति नाम की कोई वस्तु नहीं है, मनुष्य के युक्ति-तर्क के साथ भावावेग मिश्रित रहता है। उसकी नीति के साथ, पसन्द और अपसन्द दोनों मिले हुए होते हैं। इच्छाशक्ति ही हमको संचालित करती रहती है, परन्तु यह इच्छाशक्ति हमारे अधीन नहीं है। इसलिये ममुष्य और पशु दोनों क्षेत्रों में इच्छाशक्ति के प्रकाश में अनिवार्यता (Necessity) है। हाब्स् के मतानुसार सत्-असत्, न्याय-अन्याय सभी आपेक्षिक हैं। परम या शाश्वत (Absolute) कोई चीज नहीं है। आकांक्षा ही नीति जगत का नियन्त्रक है, परम कल्याण, शाश्वत न्याय आदि कविकल्पना मात्र है। ये सत्य नहीं हैं; बल्कि धर्मशास्त्र के काल्पनिक सिद्धान्त मात्र हैं।

हाब्स् का राजनीतिक दर्शन उपरोक्त मतवाद के ऊपर ही प्रतिष्ठित है। जैसे दर्शन और नीति में स्वाधीन इच्छा का कोई स्थान नहीं है, राजनीति में भी वही बात है। प्रकृति के राज्य में जैसे क्षमता ही न्याय है, राष्ट्र जगत में भी वैसा ही है। वसुन्धरा वीरों के ही भोग करने के लिये है। प्रकृति के आदि-युग में मनुष्य जंगली था, परस्पर लड़ाई में ही उसका जीवन व्यतीत होता था। राष्ट्र के उद्भव के साथ मनुष्य जब सभ्य हुआ, तब युद्ध का अन्त हुआ और शान्ति आई। राष्ट्र मनुष्य के जीवन और सम्पद का रक्षक बना। इसलिये यह स्वाभाविक है कि सब मनुष्यों को राष्ट्र की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी है। यही कारण है कि राष्ट्र के विधान को ही चरम विधान मानने को मनुष्य बाध्य है।

दो विषयों में हाब्स् का दर्शन बेकन के दर्शन से पृथक् है। बेकन ने आगमनात्मक युक्ति-पद्धति को ही दर्शन की भित्ति के रूप में ग्रहण किया था। परन्तु हाब्स् ने निर्भर किया है निगमनात्मक (deductive) युक्ति के ऊपर। दूसरा यह कि हाब्स् का दर्शन जड़वाद या भौतिकवाद (materialism) का प्रचारक है। अतिविज्ञान (metaphysics) की दृष्टि से यह दर्शन अत्यन्त स्थूल है। परन्तु इंग्लैंड में प्रत्यक्षवादिता के जनक के रूप में तथा देहवादी मनोविज्ञान के पथ-प्रदर्शक के रूप में हाब्स् को एक विशेष स्थान प्राप्त है।

पठनीय

हाब्स् लिखित--The Leviathan.
Works—Edited by Molesworth.
Selections--M. W. Calkins (Open Court)
आलोचनात्मक--Hobbes--Leslie Stephen
Hobbes--John Laird.

बुद्धिवाद (Rationalism)

रेने देकार्ते (Rene Descartes 1596-1650)

[फ्रांस के तुरेन शहर में १५९६ ई० में देकार्ते का जन्म हुआ। शारीरिक स्वास्थ्य उनका अच्छा न था, परन्तु उनकी मानसिक शक्ति असाधारण थी। इसके अलावा उनमें स्वतन्त्र विचार की शक्ति थी। जेसुइट (ईसाइयों की एक विशेष पन्थ) लोगों के विद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर १८ वर्ष की उम्र में देकार्ते पेरिस में आकर रहने लगे। पेरिस का शौकीन जीवन उनको अप्रिय होने के कारण उन्होंने सैनिक जीवन को ग्रहण किया। जीवन के इसी काल में अर्थात् २४ वर्ष की उम्र में, दार्शनिक तत्वों के आविष्कार के लिये उन्होंने एक विशेष पद्धति का प्रचार किया। प्रायः दो साल देश भ्रमण करने के बाद वह पुनः पेरिस आकर रहने लगे और कुछ साल बाद हालैंड के वह निवासी बन गये। लोगों का संग उनको पसंद न था और अलग रहकर अध्ययन और रचना ही उनको प्रिय था। उनके हालैंड जाने का यही कारण था। कहा जाता है कि साक्षात्कार के इच्छुक नर-नारियों की दृष्टि से अपने को बचाने के लिये उन्होंने चालीस बार अपना मकान बदला था। अपने जीवन के २० वर्ष उन्होंने हालैंड में बिताया। इसी समय उनकी ख्याति बहुत दूर तक पहुंची और ५४ साल की उम्र में स्वीडेन की रानी क्रिस्टिना दर्शन के अध्ययन के लिये उनको स्वीडेन ले गई। दूसरे साल १६५० ई० में उनकी मृत्यु हुई।]

देकार्ते एक वैज्ञानिक, गणित-विशारद और दार्शनिक थे। आधुनिक युग की विशिष्टता के प्रति उनका मन सम्पूर्ण सचेतन था। उन्होंने

यह समझ लिया कि बिना विचार के ग्रहण करने की मध्ययुगीय नीति दर्शन के अनुकूल नहीं है। इसलिये दर्शन के लिये एक ऐसी पद्धति का आश्रय लेना पड़ेगा, जिसके द्वारा पूरा विचार करने के बाद ही किसी वस्तु की सत्यता को माना जा सकेगा। देकार्ते ने एक ऐसी पद्धति की सृष्टि की है और उसके प्रयोग के द्वारा अपने एक पृथक् दार्शनिक मतवाद की प्रतिष्ठा की है। देकार्ते के पहले ब्रूनो और बेकन ने दर्शन तथा दर्शन-पद्धति के सम्बन्ध में विचार और आलोचना किये हैं, परन्तु दोनों में से किसी ने, किसी विशेष पद्धति का प्रयोग कर किसी विशेष दार्शनिक मतवाद की सृष्टि नहीं की है। इसीलिये देकार्ते को आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के प्रथम गुरु के रूप में माना जाता है।

देकार्ते की दार्शनिक पद्धति की बुनियाद है, गणित की युक्ति-पद्धति। वह विशेषरूप से ज्यामिति के सिद्धान्तों से प्रभावित थे। ज्यामिति में कुछ स्वतःसिद्ध सत्यों को (Self evident Truth) स्वीकार करना पड़ता है। यह सत्य प्रमाण पर अपेक्षित नहीं है। इस स्वतःसिद्ध सत्य से युक्ति के द्वारा नये सिद्धान्त को पहुंचना पड़ता है। साधारण या सार्वभौम सत्य के अन्तर्निहित विशिष्ट सत्य पर इस प्रकार प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार देखा जाय तो देकार्ते की दर्शन-पद्धति के दो अंग हैं—एक सहज-प्रत्यक्ष (Intuition) और दूसरा, निगमनात्मक (Deductive) युक्ति। सहज-प्रत्यक्ष वह ज्ञान है, जिसमें ज्ञात-वस्तु अनायास सत्य-स्वरूप प्रकाशित हो जाती है और जो इतनी स्पष्ट होती है कि उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में किसी संदेह का अवकाश नहीं रह जाता। हमारे मन के अंदर जो धारणाएं होती हैं, वे साधारणतया अस्पष्ट होती हैं। इसलिये पहिला कर्तव्य है, विश्लेषण के द्वारा, इनमें से उन धारणाओं को पृथक् करना जो स्वतःसिद्ध हैं और जो

सन्देह के अतीत हैं । देकार्ते ने इन स्वतःसिद्ध धारणाओं का नाम दिया है, सहजात ज्ञान (Innate Ideas) । यह सहजात ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त नहीं है और न वाह्य जगत से हमने इसका आविष्कार किया है । ये मानव-मन की सम्पदा हैं—इन ज्ञानों को साथ लेकर ही मन जन्म लेता है ।

देकार्ते की दार्शनिक पद्धति में, विश्लेषण और संश्लेषण, विचार के ये दोनों अंग मिलते हैं । देकार्ते का कहना है कि पहिले समस्या को क्षुद्रतम अंश में विभाजित करना चाहिये और लघु से आरम्भ कर क्रमशः कठिन से कठिनतर अंशों का विचार करना चाहिये । इसमें विश्लेषण और संश्लेषण दोनों की आवश्यकता है । इस विचार-सूत्र की उत्पत्ति है, सन्देह में । सत्य है या मिथ्या, इसी सन्देह के कारण ही तो हम विचार में प्रवृत्त होते हैं ? इसलिये यदि सन्देह नहीं हो तो विचार की भी सार्थकता नहीं है । जिस प्रकार इन्द्रिय प्राप्त ज्ञान से सब समय निश्चित सत्य का निर्देश नहीं मिलता, उसी प्रकार परम्परा के कारण भी निश्चित सत्य की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं । ज्ञान-संचय के ये दोनों मार्ग भ्रान्ति मुक्त न होने के कारण देकार्ते ने संदेह मार्ग पर दर्शन-यात्रा का आरम्भ किया । परन्तु यह सन्देह प्राथमिक है, यह मार्ग का निर्देश मात्र करता है, यह गन्तव्य स्थान नहीं है । यह लक्ष्य नहीं, उपलक्ष्य मात्र है । संशय ही देकार्ते के दर्शन की अन्तिम बात नहीं है । देकार्ते सन्देह-वादी नहीं हैं । वास्तव में इस सन्देह का अर्थ है, किसी सिद्धान्त पर पहुंचने के पहिले, सब प्रकार की धारणाओं से मन को मुक्त रखना, मन को सम्पूर्ण पक्ष-पातशून्य बनाना । सन्देह दर्शन का उद्देश्य नहीं, बल्कि उपाय मात्र है । मध्ययुग में कहा गया था—'विश्वास से ही ज्ञान मिलता है'—देकार्ते ने सुनाया —'सन्देह मार्ग पर ही ज्ञान का साक्षात्कार होगा' ।

अतएव देकार्ते की दार्शनिक पद्धति में सहज-प्रत्यक्ष और युक्ति तर्क, दोनों को स्थान प्राप्त है। इसमें विश्लेषण और संश्लेषण दोनों हैं। जिसकी अनुभूति स्पष्ट है, ऐसे सहजात ज्ञान का आश्रय कर, यह दर्शन, युक्ति मार्ग से, नये सिद्धान्तों पर उपनीत हुआ है।

पहिले ही कहा जा चुका है कि स्वतःसिद्ध सत्य का आश्रय लेकर ही दार्शनिक सिद्धान्तों तक पहुंचा जा सकता है। प्रश्न यह है कि स्वतःसिद्ध सत्य का संधान कैसे मिले? देकार्ते ने निर्देश किया कि सन्देह मार्ग से ही इसका सन्धान मिल सकता है। मैं सन्देह करता हूं। किसी वस्तु को भी सत्य के रूप में ग्रहण नहीं कर सकता। कैसे जानूं कि मिट्टी, फल, फूल, पशु, पक्षी ये मेरी भ्रान्ति मात्र नहीं हैं। हो सकता है कि यह वैचित्र्यमय पृथ्वी मेरी कल्पना मात्र है। इसमें से किसी को भी हम सत्य नहीं मान सकते। तो क्या कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसको हम निश्चित सत्य के रूप में ग्रहण कर सकते हैं और जिसके विषय में किसी सन्देह का अवकाश न हो? देकार्ते ने कहा कि ऐसा सत्य है। विश्व के सब पदार्थ सत्य हैं या मिथ्या, यह सन्देह मेरे मन में है--परन्तु मैं जो सन्देह कर रहा हूं, यह मेरे निकट सत्य है। अपने सन्देह के बीच ही मैं अपने अस्तित्व का अनुभव कर रहा हूं। मेरा विचार ही मुझको स्मरण करा देता है कि मैं हूं। मैं विचार करता हूं, इसलिये मैं हूं (I think, therefore I exist)। मैं नहीं हूं, ऐसी धारणा मेरे मन में नहीं उठती। मैं हूं, इसका मुझे पूर्ण ज्ञान है। अपने विचार के बीच ही मैं अपने को अनुभव करता हूं। इस प्रकार किसी दार्शनिक सिद्धान्त तक पहुंचने के पहिले हमें एक निश्चित सत्य मिलता है, जिसको हमें स्वतःसिद्ध करके ग्रहण करना पड़ता है। साथ ही सत्य का लक्षण भी निर्धारित

हो जाता है। जो स्पष्टरूप से गोचर है, वही सत्य है। स्पष्टता और परिस्फुटता ही (Clearness and Distinctness) सत्य के लक्षण हैं। इसका और कोई प्रमाण नहीं है। मनुष्य जड़ पदार्थ नहीं है, वह विचार करता है। मनुष्य में चेतनता है और इसी चेतनता में उसका अस्तित्व प्रकाशमान है। यह आत्म सचेतनता, यह स्वतःसिद्ध प्रमाण निरपेक्ष सत्य है। चैतन्य के साथ अस्तित्व का यह घनिष्ठ सम्बन्ध, यही देकार्ते के दर्शन का मूलतत्व है।

देकार्ते के दर्शन की बुनियाद है, यह "सचेतन मैं" या मन। इस पर सन्देह करने का कोई उपाय नहीं है। क्योंकि सन्देह के बीच ही इसे स्वीकार करना पड़ता है। इस "सचेतन मैं" का स्वरूप क्या है? यह "शारीरी मैं" नहीं है। क्योंकि शरीर का आकार है, उसकी विस्तृति है, इन्द्रियों के द्वारा शरीर का वाह्य-जगत का संवाद ला देता है। परन्तु मन के ये गुण नहीं हैं। इसका एकमात्र गुण यह है कि यह विचार कर सकता है। शरीर जड़ पदार्थ है, मन चैतन्यमय है।

स्वतःसिद्ध चैतन्य को स्वीकार कर लेने के बाद देकार्ते ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये अग्रसर हुए। हमारे मन में कितनी ही धारणाओं का उदय होता है। इनमें से एक ईश्वर के सम्बन्ध में है। ईश्वर अनन्त और सर्वांग सुन्दर है, ऐसी एक धारणा हमारे मन में है। क्या यह धारणा हमारी कल्पना मात्र है, या कि इस धारणा से यह प्रतिपादित होता है कि ईश्वर हैं? देकार्ते ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है और इसके कुछ प्रमाण भी उन्होंने दिये हैं। देकार्ते द्वारा दिये गये प्रमाणों में तीन प्रकार की युक्ति दृष्टि-गोचर होती है।

(क) अनन्त और पूर्णता की मूर्त्ति ईश्वर हैं, यह मेरा सहजात ज्ञान है। यह मेरे अनुभव का विषय है, इसलिये हम इसे अस्वीकार नहीं कर सकते। मैं स्वतः अनुभव करता हूं कि ईश्वर हैं।

(ख) मनुष्य का मन असम्पूर्ण है; इसकी शक्ति सीमित है। पूर्णतम असीम ईश्वर की धारणा यह कैसे कर सकता है, जो कि स्वयं सीमित है, उसको असीम का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है, जो स्वयं असम्पूर्ण है, वह पूर्णता का संवाद क्या जाने? इसलिये जो स्वयं असीम और पूर्ण है, वह ही अपना परिचय मन को देते हैं। वह ही ईश्वर हैं, और इसलिये ईश्वर हैं। बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता। हमारे मन में ईश्वर के सम्बन्ध में जो धारणा है, उसका कारण ईश्वर ही है। इसलिये इसको कार्य-कारण की युक्ति (Causal Argument) कहा जाता है।

(ग) ईश्वर पूर्णता की मूर्त्ति हैं, इसलिये कैसे कहा जाय कि उनका अस्तित्व सम्भव नहीं? ईश्वर के सम्बन्ध में 'सम्भव नहीं' इस वाक्य का प्रयोग नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा होने से वह असम्पूर्ण हो जाते हैं। उनके लिये असम्भव कुछ नहीं, अस्तित्व भी नहीं। उनके लिये सब कुछ सम्भव है, इसी से तो वह सर्वशक्तिमान ईश्वर हैं। वह सर्वशक्ति सम्पन्न हैं, परन्तु अपने अस्तित्व को वह सम्भव नहीं कर सकते, ऐसा तो हो नहीं सकता। इसलिये ईश्वर हैं। इसको कहा जाता है, पूर्णता-अस्तित्व की युक्ति (Ontological Argument)।

देकार्ते के मतानुसार ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करना दर्शन के लिये अत्यावश्यक है। क्योंकि इसी सत्य के ऊपर अन्य सभी सत्य और ज्ञान निर्भर हैं। ईश्वर के अस्तित्व की निश्चयता न होने से, "मैं हूं" इस सत्य

को छोड़कर, और कुछ जानने का उपाय नहीं रह जाता। कैसे जाने कि "मैं" को छोड़कर और कोई सत्य भी है? परन्तु ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में निश्चयता हो जाने से मन में और सन्देह नहीं रह जाता। अनन्त पूर्णतम ईश्वर इस विश्व के सृष्टिकर्ता हैं। मेरे बाहर जो जगत है, इसकी सत्यता में मैं विश्वास करता हूं। यह विश्वास ईश्वर ने मेरे मन को प्रदान किया है। उन्होंने दिया है, इसलिये यह मिथ्या नहीं हो सकता। भगवान तो प्रतारक नहीं हैं। जो सर्वगुणमय हैं, वह प्रतारक कैसे हो सकते हैं। इसलिये यह जगत मेरे मन का भ्रम नहीं है—यह एक निश्चय सत्य है। जैसे मैं हूं, जैसे ईश्वर हैं, उसी प्रकार यह जगत है।

ईश्वर, मन और जड़ जगत इन तीनों के अस्तित्व को देकार्ते ने प्रमाणित किया। इनमें से ईश्वर को कहा जा सकता है 'परम पदार्थ' (Absolute Substance) मन को कहा जा सकता है 'चेतन पदार्थ' (Conscious Substance) और जड़ को कहा जा सकता है 'विस्तृत पदार्थ' (Extended Substance)। देकार्ते के अनुसार 'परम पदार्थ' वह है, जिसका अस्तित्व अन्य किसी पर निर्भर नहीं। एकमात्र ईश्वर ही ऐसा पदार्थ हो सकते हैं; क्योंकि वे ही सब कारणों के कारण हैं। और सारा जगत उन्हीं पर निर्भर है। जो अनंत है वह और किस पर निर्भर होगा? मन और जगत भी पदार्थ हैं, परन्तु ये आपेक्षिक खण्ड पदार्थ हैं। इनका अस्तित्व अनन्त ईश्वर की अपेक्षा रखता है। ये आपेक्षिक खण्ड पदार्थ हैं 'प्रकार' (Modes)। इसके अलावा प्रत्येक पदार्थ के विशेष धर्म या गुण हैं। इसी विशेष गुण के ऊपर उसकी पदार्थता निर्भर है। किसी पदार्थ से उसके गुण को हटा लेने से पदार्थ की पदार्थता का भी लोप हो जाता है।

यह विश्व ईश्वर की सृष्टि है। देकार्ते के मतानुसार इस विश्व के दो भाग हैं। एक मन और दूसरा शरीर, एक चैतन्य और दूसरा जड़। ये दोनों सम्पूर्ण विपरीत धर्मी हैं। मन का जो धर्म या गुण है, वह जड़ का नहीं, और जो जड़ का धर्म है, वह मन का नहीं। मन विचार कर सकता है, परन्तु जड़ ऐसा नहीं कर सकता। दूसरी ओर जड़ का आकार है, परिमाण है, विस्तृति है, परन्तु मन के ये सब गुण नहीं हैं। मन निरवयव है, इसका कोई परिमाण नहीं और यह जगह नहीं घेरता। परन्तु मन स्वतन्त्र और सक्रिय है—जड़ अचल और अचेतन, इसकी क्रिया अपने अधीन नहीं है। इसलिये जो चेतन है, वह जड़ नहीं हो सकता और जो जड़ है, वह चेतन नहीं हो सकता। जो शरीर है, वह मन नहीं और जो मन है वह शरीर नहीं। इसलिये देकार्ते के मतानुसार, जड़ जगत एक उद्देश्यहीन यन्त्र की नाईं है। यन्त्र जैसे स्वेच्छा से नहीं चल सकता, वह चालक पर निर्भर है, जगत भी वैसा ही है। जड़ जगत की क्रिया के कर्त्ता स्वयं ईश्वर हैं। उन्होंने अपनी इच्छा से जड़ जगत में गति का सञ्चार किया है।

देकार्ते के दर्शन में हम देखते हैं कि जड़ और चैतन्य या देह और मन ये दो विभिन्न पदार्थ हैं। यही देकार्ते का द्वैतवाद (Dualism) है। परन्तु इस द्वैतवाद को स्वीकार करते हमें एक कठिन समस्या का सामना करना पड़ेगा। मन और शरीर ये दोनों भिन्न पदार्थ होने पर भी मनुष्य में दोनों वर्तमान हैं। देह और मन दोनों मिलकर ही मनुष्य है। मनुष्य जीवन की अभिज्ञता में देह मन का एक निगूढ़ संबंध सदा ही प्रतीत होता है। देह के ऊपर मन का प्रभाव और मन के ऊपर देह का प्रभाव पड़ता है, प्रात्यहिक जीवन में हम इसका अनुभव करते हैं। मन को आघात पहुंचने से शरीर अस्वस्थ हो जाता है और शरीर

पर आघात पहुँचने से मनुष्य अचेतन भी हो सकता है। परन्तु देह और मन यदि विपरीत धर्मी हैं, तो यह सम्बन्ध किस प्रकार सम्भव होता है? किस प्रकार ये दोनों परस्पर विरोधी पदार्थ मनुष्य जीवन में सम्मिलित होते हैं और सम्मिलित होकर उस जीवन को सुनियन्त्रित रूप से सञ्चालित करते हैं? मनुष्य जीवन का यह एक रहस्य है। देकार्ते के मतानुसार पशु-जीवन में यह समस्या नहीं है। उनके अनुसार पशु मानसहीन है, उसका जीवन जड़ जीवन है, एक यान्त्रिक जीवन है। उसकी प्राण-शक्ति यान्त्रिक क्रिया मात्र है, स्नायु और पेशियों के सञ्चालन का फल है। इसलिये मनुष्येतर प्राणी यन्त्रस्वरूप है। परन्तु मनुष्य जीवन जड़ और चेतन की सम्मिलित लीला-भूमि है। देकार्ते के द्वैतवाद के द्वारा इस सम्मिलित लीला की व्याख्या किस प्रकार से की जा सकती है?

देकार्ते ने स्वयं देह और मन के इस सम्बन्ध को स्वीकार किया है। उनके मतानुसार देह और मन का सम्बन्ध, पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया का (Interactionism) सम्बन्ध है। मस्तिष्क के अन्दर एक पिनियल ग्रन्थि (Pineal Gland) है, जिसकी मध्यस्थता में देह और मन का संयोग सम्भव होता है। इसी ग्रन्थि के बीच होकर मन, शरीर के ऊपर और शरीर मन के ऊपर क्रिया करता है। देह और मन के बीच जो गुणगत व्यवधान है, पिनियल ग्रंथि ने उसके ऊपर, आदान-प्रदान के लिये एक मिलनसेतु की रचना की है। पिनियल ग्रन्थि ही चेतना का शक्ति केन्द्र है।

समालोचकों की दृष्टि से देकार्ते के दर्शन की कुछ असंगतियां लक्ष्य करने की हैं। देकार्ते ने सत्य का जो लक्षण निर्धारित किया है—स्पष्टता और परिस्फुटता, वह ठीक नहीं है। क्योंकि इससे सत्य की सार्विकता क्षुण्ण होती

है, यह वस्तुगत न रह कर व्यक्तिगत हो पड़ता है । मेरे निकट जो स्पष्ट और परिस्फुट हैं, वह दूसरे के निकट ऐसा नहीं भी हो सकता है । जो सत्य है, वह सबके लिये सत्य होगा, एक के निकट सत्य और दूसरे के निकट मिथ्या नहीं हो सकता । देह और मन के सम्बन्ध में देकार्ते ने जो व्याख्या की है, वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि पिनियल ग्रन्थि तो देह का ही अंश है, इसके साथ मन का सम्बन्ध क्या है, यह तो प्रश्न का प्रश्न ही रह गया । पिनियल ग्रन्थि यदि देह और मन के मिश्रण से पैदा कोई वस्तु होती तो वह देह और मन का संयोग कर सकती थी । परन्तु ऐसा जब नहीं है तो समस्या का समाधान नहीं हो सका ।

ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में देकार्ते ने जो प्रमाण दिये हैं, उनके भी विरुद्ध आलोचना हुई है । अपूर्ण और सीमित मानव-मन कैसे पूर्ण और असीम ईश्वर के अस्तित्व से अवगत हो सकता है, देकार्ते की व्याख्या के बाद भी इस विषय में संशय रह जाता है। जर्मन दार्शनिक कॉण्ट ने इसका खंडन किया है, और हेगेल ने देकार्ते का पक्ष लेकर कॉण्ट का प्रतिवाद किया है । दूसरी ओर हम यह देखते हैं कि देकार्ते ने पहिले चैतन्य के अस्तित्व को प्रमाणित कर बाद में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया है । परन्तु फिर उन्होंने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि ईश्वर ही सब सत्यों की बुनियाद हैं और इस प्रकार हमारे चैतन्य के मूल में भी वही है । चैतन्य के द्वारा ईश्वर को प्रमाणित कर, पुनः ईश्वर के द्वारा चैतन्य को प्रमाणित करने की युक्ति को ठीक नहीं कहा जा सकता । ईश्वर के अस्तित्व से जगत के अस्तित्व को निकालने में देकार्ते ने जिन प्रमाणों का आश्रय लिया है, उनमें कोई युक्ति नहीं है । "ईश्वर दिखला रहे हैं, हम देख रहे हैं"—यह कोई युक्ति नहीं है, बल्कि

विश्वास मात्र है। जड़ और चैतन्य को विपरीत धर्मी बना कर देकार्ते ने एक कठिन दार्शनिक समस्या को उत्पन्न किया है। मन को बाहरी जड़-जगत का ज्ञान किस प्रकार होता है, इसकी कोई व्याख्या देकार्ते ने नहीं की है। ईश्वर की सत्यनिष्ठा ही जगत के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान को मिथ्या नहीं होने देती। परन्तु यह सत्यनिष्ठा तो विश्वास की बात है; इसके प्रमाण की अपेक्षा है।

ईश्वर ने जीव-जगत की सृष्टि की है, परन्तु स्रष्टा के साथ सृष्ट पदार्थ के और क्या सम्बन्ध हैं, इसकी कोई बात देकार्ते ने नहीं बताया है। ईश्वर क्या सृष्टि करने के बाद अपनी सृष्टि के सम्बन्ध में उदासीन हो जाते हैं ? या कि, रक्षा और पालन करने का भार उन पर है ? देकार्ते के दर्शन से इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता।

परन्तु इन सब असंगतिदोष के बावजूद देकार्ते के दर्शन का मूल्य घटेगा नहीं। उनकी विचारधारा में अनेक भविष्य मतवाद के बीज निहित हैं। पिनियल ग्रन्थि की मध्यस्थता में देह मन का सम्बन्ध––इस मतवाद ने भविष्य के देहवादी मनोविज्ञान की बुनियाद डाली है। देकार्ते का यह मत, कि, जड़ और चैतन्य दोनों ईश्वर से उद्भूत हैं, स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद (Pantheism) का मार्ग प्रदर्शक है।

देकार्ते के दर्शन का प्रभाव यूरोप में बहुत दूर तक फैला हुआ था और उस समय के शिक्षित व्यक्ति मात्र ने इससे प्रेरणा ग्रहण की। अनेक दार्शनिकों ने देकार्ते के मतवाद को ग्रहण किया था। इनको कार्टीजीयन सम्प्रदाय के नाम से पुकारा जाता है। इस सम्प्रदाय के सामने दो समस्याएं थीं, जिनका समाधान अभी नहीं हो पाया था। पहिली समस्या यह थी कि देह-मन या जड़-चेतन के सम्बन्ध का स्वरूप क्या है; और दूसरी यह कि ईश्वर के साथ

जीव-जगत के सम्बन्ध का स्वरूप क्या है । फ़्रांस के दो दार्शनिकों ने देकार्ते के मतवाद को ग्रहण कर उसको असंगति दोष से मुक्त करने की चेष्टा की है। इनके नाम हैं गेलिंक्स (Geulincx) और मालेब्रांश (Malebranche)। शरीर और मन के सम्बन्ध के विषय में देकार्ते ने जो व्याख्या की थी, उसको इन्होंने स्वीकार नहीं किया । इन्होंने यह तो स्वीकार किया कि जड़ और चेतन, शरीर और मन ये दोनों परस्पर विरोधी हैं और विभिन्न धर्मी हैं, परन्तु इनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया को इन्होंने स्वीकार नहीं किया । देकार्ते ने तो सर्वशक्तिमान ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता के रूप में स्वीकार किया। वह ईश्वर ही देह और मन दोनों पदार्थों के बीच एक सेतुस्वरूप हैं । गेलिंक्स् के अनुसार ईश्वर ने ही देह और मन का संचालन कर दोनों के बीच सहयोगिता को अक्षुण्ण रखा है। जभी मन में इच्छा उठती है, उसी समय ईश्वर उस इच्छा के अनुकूल दैहिक क्रिया को उत्पन्न कराते हैं । पुन: जब शरीर में कोई क्रिया होती है, तो ईश्वर मन को उससे अवगत कराते हैं । मालेब्रांश के अनुसार मन और देह, चेतन और जड़,—ये एक दूसरे से पृथक् होने पर भी, ईश्वर में ही निहित हैं । पूर्ण के बीच ये दोनों दो अंश हैं । इसलिये इनकी जो क्रिया है, वह ईश्वर की क्रिया है—किसी व्यक्ति विशेष की क्रिया वह नहीं । हमारे मन में जो इच्छा उठती है, वह मेरी इच्छा नहीं, वह ईश्वर की इच्छा है । इसी प्रकार मेरे शरीर की क्रिया भी मेरी नहीं, ईश्वर की क्रिया है । ईश्वर के मन के स्पन्दन से ही सबका मन स्पन्दित होता है। ईश्वर की धारणा ही मूर्त्त होकर जड़ के आकार में परिणत होती है । इसलिये ईश्वर ही एकमात्र परम आधार हैं । जड़ और चेतन में जो सहयोग है, वह ईश्वर की ही लीला है।

परन्तु कार्टीजियन सम्प्रदाय का यह मतवाद स्थायी न हो सका, और

इस मतवाद से किसी सम्पूर्णांग दार्शनिक तत्व की रचना भी न हो सकी। इससे उपर्युक्त दोनों समस्याओं का सामयिक समाधान तो हुआ, परन्तु इसके साथ एक नई समस्या भी उठ खड़ी हुई। यदि ईश्वर ही मनुष्य के सब इच्छा और कर्मों के कर्त्ता हैं, तो मनुष्य की कोई जिम्मेदारी तो रही नहीं। ईश्वर ही सब कुछ कराते हैं, मनुष्य तो उपलक्ष्य मात्र है। इसलिये मनुष्य के अच्छे या बुरे कर्मों या भावनाओं की जिम्मेदारी ईश्वर की है। फिर तो मनुष्य-जगत में नीति नाम की कोई चीज नहीं रहती। परन्तु ईश्वर को विश्व का एकमात्र आश्रय के रूप में ग्रहण कर यह मतवाद परवर्ती दार्शनिक स्पिनोजा के सर्वेश्वरवादी दर्शन की भूमिका बन गई।

पठनीय

देकार्ते लिखित :—Discourse in Method.
Meditations.
Descartes Selections (Scribners).

सहज प्रवेशिका :—E. S. Haldane--Descartes : His Life and Times.

आलोचनात्मक :--N. K. Smith—Studies in the Cartesian Philosophy.
Kuno Fisher—Descartes and His School.
A. Boyce Gibson--The Philosophy of Descartes.
S. V. Keeling--Descartes.

बेनेडिक्ट स्पिनोजा (Benedict Spinoza 1632-1677)

[स्पेन और पुर्तगाल से बहिष्कृत होकर यहूदियों का एक दल हालैंड में बस गया था। उसी में से एक परिवार में १६३२ ई० में आमस्टरडम शहर में स्पिनोजा का जन्म हुआ। धर्मग्रन्थों से शैशव की प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर स्पिनोजा विद्यालय में लैटिन शिक्षा प्राप्त करने लगे और देकार्ते आदि के दार्शनिक ग्रन्थों का पाठ करने लगे। गणित और विज्ञान उनको बहुत प्रिय था। आधुनिक विज्ञान तथा दर्शन के अध्ययन से स्पिनोजा के लिये शास्त्रोक्त धर्ममत पर विश्वास करना कठिन हो गया। इस आधुनिक मतवाद के प्रति श्रद्धा और अपने संशय के ज्ञापन करने में वह हिचकते न थे। परन्तु उनका निर्भीक सत्य-प्रेम ही उनके जीवन का शत्रु बन गया। उनके अभिभावक और हिताकांक्षी बन्धुओं ने भी समाज और राष्ट्र के भय से उनका परित्याग किया। इस प्रकार आत्मीय बन्धु समाज द्वारा परित्यक्त होकर स्पिनोजा आलोक-यन्त्र के परकल बनाने के काम से अपनी जीविका उपार्जन करने लगे। परन्तु दर्शन के अध्ययन और चिन्तन का काम उन्होंने जारी रखा। वह नगर के निकट एक ग्राम में रहते थे और अनेक शिक्षित लोग उनके साथ दर्शन की आलोचना के लिये आते थे। पत्र-विनिमय के द्वारा भी वे उनसे दर्शन की चर्चा करते थे। इनमें इंगलैंड में तत्काल प्रतिष्ठित रॉयल सोसायटी के अध्यक्ष ओल्डेनबर्ग, विख्यात वैज्ञानिक राबर्ट बायल तथा हायजेन्स और दार्शनिक लाइबनिट्स भी थे। स्पिनोजा की ख्याति शीघ्र ही बहुत दूर तक फैल गई। हाइडेलबर्ग विश्व-

विद्यालय के अध्यक्ष पद के लिये उनको आमन्त्रित किया गया और सम्राट् चौदहवें लूई ने उनको कहलाया कि यदि वह सम्राट् के नामपर अपनीपुस्तक को उत्सर्गीकृत करे तो वह उनकी वृत्ति का प्रबन्ध कर देंगे। परन्तु स्पिनोजा ने इनमें से किसी को भी ग्रहण नहीं किया और स्वाधीन जीवन बिताना ही उन्होंने पसन्द किया। ४५ वर्ष की अवस्था में स्पिनोजा की मृत्यु हुई। उस समय पृथ्वी यह जान न सकी कि कितना बड़ा दार्शनिक दुनिया से उठ गया।]

हम देख चुके हैं कि देकार्ते ने अपने दर्शन में तीन मख्य विषयों की आलोचना को स्थान दिया—ईश्वर, चेतन और जड़। परन्तु चेतन और जड़ के गुणगत विभेद को स्वीकार कर उन दोनों की सम्बन्ध की व्याख्या में वह असमर्थ रहे। इसके अलावा सृष्टि कार्य को छोड़कर अपने सृष्ट जड़-चेतन से उनका स्वयं क्या सम्बन्ध है, इसका भी उन्होंने कोई विस्तार नहीं किया। दो पदार्थ होने से उनके बीच सम्बन्ध का प्रश्न उठता है। परन्तु यदि एक ही पदार्थ को स्वीकार किया जाय तो सम्बन्ध का प्रश्न नहीं उठता। इसलिये उपर्युक्त समस्या के दो समाधान सम्भव हैं—या तो एक ही पदार्थ को स्वीकार करना, या जड़, चेतन की गुणगत विषमता को स्वीकार करते हुए भी उनकी पृथक् सत्ता को अस्वीकार करना। स्पिनोजा ने प्रथम समाधान को ही ग्रहण किया।

देकार्ते ने दर्शन-पद्धति तथा परम पदार्थ के सम्बन्ध में जिन लक्षणों का निर्देश किया है, उन्हीं बुनियादों पर स्पिनोजा ने अपने दर्शन की प्रतिष्ठा की है। देकार्ते की भांति स्पिनोजा ने भी यह मान लिया था कि दर्शन गणित का ही व्यापक रूप है। स्पिनोजा ने अपने दर्शन में केवल ज्यामिति की

निगमनात्मक यक्ति का ही प्रयोग नहीं किया है, बल्कि अपने दर्शन ग्रन्थ को उन्होंने ज्यामिति की भांति ही लिखा है। ज्यामिति में पहले कुछ स्वतः-सिद्ध सत्यों के निर्वचन (Definition) के रूप में ग्रहण किया जाता है और उन्हीं निर्वचनों के बीच हम अनिवार्य रूप से अन्य सिद्धान्तों पर पहुंचते हैं। स्पिनोजा के दर्शन में भी कुछ निर्वचनों की उक्ति है और उन्हीं के आधार पर अन्य सत्यों का आविष्कार है।

स्पिनोजा के दर्शन के तीन मुख्य विषय हैं--परम-पदार्थ-तत्व, गुणतत्व और प्रकार-तत्व। हमारी अभिज्ञता के अन्दर सब कुछ इनमें से किसी एक के अन्तर्गत ही है। इसलिये इन तीन तत्वों के यथार्थ ज्ञान से विश्व के सब कुछ का ज्ञान हो जाता है। स्पिनोजा के मतानुसार परम पदार्थ वह है, जो स्वयं अपना आश्रय है और स्वयं ही अपना ज्ञाता है। बुद्धि द्वारा परम पदार्थ की जो विशिष्टता की अनुभूति होती है, उसका नाम है 'गुण'। 'प्रकार' है परम पदार्थ का परिणाम, या उसकी अभिव्यक्ति। प्रकार की सत्ता परम पदार्थ के ऊपर निर्भर है।

परम पदार्थ अथवा ईश्वरतत्व

परम पदार्थ स्वयं अपना आश्रय है। इससे यह निकलता है कि परम पदार्थ स्वयं ही अपना कारण है। यदि इसका कोई अन्य कारण होता तो इसके पहले भी कुछ होता और उस पर वह निर्भर भी होता और तब इसको 'परम' (Absolute) नहीं कहा जा सकता। उक्त निर्वचन से यह भी सिद्ध है कि परम पदार्थ अनन्त है। यदि यह अनन्त न होकर शान्त हो तो यह अन्य शान्त पदार्थों में से एक होगा, और उनके बीच परस्पर आदान-प्रदान

होने के कारण यह पर-निर्भर होगा और स्वयं अपना ज्ञाता नहीं हो सकेगा। पुनः परम पदार्थ यदि स्वयम्भू और अनन्त है तो वह होगा एक, अद्वितीय। कारण यह कि दो अनन्त पदार्थ एक साथ नहीं रह सकते, नहीं तो उभय उभय के द्वारा खण्डित होकर ससीम हो जायेंगे। इसलिये, परम पदार्थ है, अद्वितीय। अन्य किसी पर निर्भर न रहने के कारण यह मुक्त है। यह पूर्ण स्वाधीन है। अपने तथा विश्व के सब कुछ के कारण के रूप में यह परम पदार्थ स्वयंसिद्ध और विभू है।

स्पिनोजा ने इस परम पदार्थ का नाम दिया ईश्वर। ईश्वर स्वयम्भू और अनन्त हैं। इस ईश्वर-तत्व से ही स्पिनोजा के दर्शन का आरम्भ है। यह ईश्वर ही विश्व के सब कुछ का एकमात्र अवलम्बन है। हम इस ईश्वर-तत्व का अतिक्रमण नहीं कर सकते, क्योंकि हमारी बुद्धि इसका अतिक्रमण करने में अक्षम है। इसलिये, स्पिनोजा ने कहा, कि इस ईश्वर-तत्व से ही हमें आरम्भ करना होगा। ईश्वर-तत्व ही चरमतत्व है और अन्य सब तत्वों का आश्रय है। ईश्वर स्वयंसिद्ध है और किसी प्रमाण की अपेक्षा वह नहीं रखता। प्रमाण होगा भी किसके द्वारा, क्योंकि सब प्रमाणों का प्रमाण ही तो ईश्वर है। ईश्वर के सम्बन्ध में यदि कुछ कहा जाय तो यही कहा जा सकता है कि ईश्वर ही ईश्वर का स्वरूप है।

स्पिनोजा का ईश्वर धर्मशास्त्रों में वर्णित ईश्वर से भिन्न है। धर्मशास्त्रों में ईश्वर का जो वर्णन मिलता है, उसमें वह है गुणमय दिव्य पुरुष; वह है करुणामय, सत्। परन्तु स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर है गुणातीत, निर्विशेष, निर्गुण। किसी गुण से ईश्वर के स्वरूप को पकड़ में नहीं लाया जा सकता, क्योंकि गुण की सृष्टि तो मनुष्य-बुद्धि ने की है। मनुष्य ने

अपने ही गुण के एक वृहद्‌रूप की कल्पना कर ईश्वर पर उसका आरोप किया है। इसलिये स्पिनोजा के मतानुसार धर्मशास्त्र में वर्णित ईश्वर मनुष्य की ही सृष्टि है। यह ईश्वर का स्वरूप नहीं है। ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान बुद्धि के द्वारा नहीं हो सकता। क्योंकि ज्योंही हम जानने की चेष्टा करते हैं, हमारी बुद्धि उस स्वरूप को विशेषण के द्वारा खण्डित कर डालती है। यदि हम कहें कि ईश्वर दयालु और सत् हैं, तो तत्काल ही दयालु सत् ईश्वर के बग्‌ल निर्दय असत् की भी सृष्टि होती है। क्योंकि निर्दय असत् के न होने से दयालु और सत् निरर्थक हो जाते हैं। इसलिये यदि हम ईश्वर को गुणमय कहें तो फिर हम उसे अद्वितीय नहीं कह सकते। दूसरी बात यह है कि धर्मशास्त्र में वर्णित ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है; इसलिये सृष्टि के पूर्व भी वह थे और सृष्ट पदार्थ से वह पृथक है। क्योंकि वह सृष्टि करते हैं और जगत सृष्ट होता है। परन्तु स्पिनोजा के मतानुसार ईश्वर पर इस कर्तृत्व का आरोप करने से उसको फिर निर्गुण नहीं कहा जा सकता। ईश्वर के स्वरूप को निर्धारित करना सम्भव नहीं, क्योंकि स्पिनोजा के मतानुसार निर्धारणमात्र ही निषेधात्मक है (Every determination is negation)। स्पिनोजा के अनुसार धर्मशास्त्र का ईश्वर वास्तविक ईश्वर नहीं, वह मनुष्य सृष्ट ईश्वर है। वास्तविक ईश्वर गुणातीत और निर्विशेष है।

स्पिनोजा ने ईश्वर को जगत का कारण कहा है। परन्तु कारण शब्द के प्रचलित अर्थ में उन्होंने इसका प्रयोग नहीं किया है। दुनिया में हम देखते हैं कि पुत्र का कारण है पिता, पुस्तक का कारण है उसका लेखक। परन्तु इस रूप में ईश्वर जगत के कारण नहीं। पुत्र के साथ पिता या पुस्तक के साथ लेखक का ऐसा सम्बन्ध नहीं कि इनमें से एक जब तक रहेगा दूसरा भी तब तक रहेगा

और एक के न रहने से दूसरे का भी अस्तित्व लुप्त हो जायगा। पिता-पुत्र या पुस्तक-लेखक का सम्बन्ध बाह्य सम्बन्ध है। इन क्षेत्रों में 'कारण', 'कार्य' के बाहर और पृथक् होकर रहता है। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर और जगत का सम्बन्ध इस प्रकार का नहीं, वह अत्यन्त घनिष्ठ है। मधु के साथ उसकी सुमिष्ठता का जो सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध इसी प्रकार का है। मधु अपनी मिष्ठता का कारण है, परन्तु इन दोनों का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं। मधु न हो और मधुरता हो, या बिना मधु के ही मधुरता हो, यह कल्पना के अतीत है। यहां कार्य-कारण परस्पर इस प्रकार ओत-प्रोत है कि एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। ईश्वर और जगत का सम्बन्ध भी ऐसा ही परिव्याप्त है। इसलिये ईश्वर को जगत का सृष्टिकर्त्ता नहीं कहा जा सकता। सृष्टि के बाहर रहकर ईश्वर ने सृष्टि की रचना की और बाहर ही रहकर इसकी देख-भाल करने लगे——ऐसा नहीं हो सकता। वास्तव में ईश्वर विश्व के एकमात्र शाश्वत आश्रय हैं, सब कुछ की अन्तर्निहित सत्ता हैं। इसलिये ईश्वर जगत से पृथक् नहीं और जगत भी ईश्वर से भिन्न नहीं। स्पिनोजा के अनुसार जगत ईश्वर है और ईश्वर ही जगत। विश्व का सब कुछ ईश्वर है और ईश्वर ही विश्व का सब कुछ है। यही कारण है कि इसको सर्वेश्वरवाद (Pantheism) का नाम दिया गया है।

परन्तु ईश्वर को दिव्य गुणमय पुरुष और जगत के सृष्टिकर्त्ता के रूप में स्वीकार न करने से धर्मशास्त्रों का विरोध ही होता है। स्पिनोजा के ईश्वर-तत्व ने ईसाई धर्म का विरोध ही किया। इस प्रकार उनको नास्तिक और निरीश्वरवादी कहकर अनेकों ने उनके प्रति अविचार

किया । कुछ लोगों ने यह भी कहा कि स्पिनोजा ईश्वरमदमत्त हैं, सब कुछ में वह ईश्वर का ही दर्शन करते हैं । यह कहने की आवश्यकता नहीं कि स्पिनोजा को नास्तिक नहीं कहा जा सकता । स्पिनोजा केवल ईश्वरवादी ही नहीं, बल्कि सर्वेश्वरवादी हैं ।

गुणतत्व अथवा जड़ और चैतन्य के स्वरूप

स्पिनोजा-दर्शन के ईश्वर-तत्व की आलोचना से यह धारणा हो सकती है कि जगत के सम्बन्ध में और कुछ कहना नहीं है । परन्तु इसके बाद भी यह प्रश्न रह जाता है कि हम जिस प्रकार से जगत को देखते हैं, हमारे उस परिचित जगत की व्याख्या हम किस प्रकार करें ? हमारी दृष्टि में तो विश्व ईश्वरमय नहीं जान पड़ता—विश्व की विभिन्न चीजें अपनी-अपनी विशिष्ठता को लेकर नित्य हमारे सामने उपस्थित होती हैं । जगत के इस वैचित्र्य की व्याख्या किस प्रकार की जाय ? हमारे ज्ञान में एक ओर जल, मिट्टी जैसे जड़ पदार्थ हैं और दूसरी ओर आनन्द, वेदना आदि मानसिक घटनाएं हैं । यह भी हम समझते हैं कि इन दोनों में पार्थक्य है । परन्तु इसकी व्याख्या किस प्रकार की जाय ? स्पिनोजा ने अपने गुणतत्व में इसी प्रश्न के उत्तर देने की चेष्टा की है ।

परम पदार्थ अनन्त-धर्मी और असंख्य गुणों का आकर है; इसका प्रत्येक गुण ईश्वर की सत्ता को प्रकाशित करता है । इन असंख्य गुणों में मनुष्य बुद्धि केवल दो को जान सकती है—जड़ और चैतन्य । इसलिये मनुष्य का जगत जड़ और चैतन्य का जगत है । देकार्त के मतानुसार जड़ और चैतन्य जगत के दो विभिन्न भाग हैं । और दोनों परस्पर विरोधी हैं । परन्तु स्पिनोजा

के मतानुसार जड़ और चैतन्य भिन्न जान पड़ने पर भी वास्तव में भिन्न नहीं हैं। हम अज्ञानवश इनको पृथक् रूप में देखते हैं। ये एक ईश्वर के ही दो गुण हैं। ये दो गुण ईश्वर के दो प्रकाश हैं। ईश्वर निरन्तर अपने को प्रकाशित कर रहे हैं; हम उस प्रकाश को दो भिन्न दिशाओं से और दो भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं--एक ओर जड़ के रूप में और दूसरी ओर चैतन्य के रूप में। वास्तव में हम जिसको जड़ के रूप में देखते हैं, वह भी भगवान है, और जिसको चैतन्य के रूप में देखते हैं वह भी भगवान है। एक ही पदार्थ की पहचान हम दो नामों से करते हैं। इनमें से प्रत्येक के बीच से भगवान की ही सत्ता प्रकाशित होती है। जड़ और चैतन्य मानो एक ही आलोक की दो किरणें हैं, जो विभिन्न प्रकार से प्रतिफलित होती हैं।

परम पदार्थ अनन्त गुण विशिष्ट है; और इनमें से प्रत्येक गुण अनन्त है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य की बुद्धि परम पदार्थ के दो गुणों, जड़ और चैतन्य से तो परिचित है, परन्तु इन दो गुणों का भी उसे पूरा ज्ञान नहीं है। जड़ इस विश्व में जिन असंख्य रूपों में प्रकाशित है, उनका निःशेष ज्ञान हम प्राप्त नहीं कर सकते। चैतन्य भी कितने रूपों में अपने को व्यक्त करता है, उसका कोई हिसाब हम नहीं लगा सकते।

स्पिनोजा के अनुसार जड़ और चैतन्य ईश्वर के ही स्वरूप हैं, उसी के प्रकाश हैं। हम इनको दो रूपों में देखते हैं, इसीलिये ये दो हैं। इसी मतवाद का आश्रय लेकर स्पिनोजा ने शरीर और मन के सम्बन्ध की व्याख्या की है। देह और मन परस्पर युक्त होकर क्रिया-प्रतिक्रिया की सृष्टि नहीं करते। इसकी प्रयोजनीयता भी नहीं है। क्योंकि देह और मन या जड़

और चैतन्य ईश्वर के ही प्रकाश हैं। जड़ या देह में जिस प्रकार ईश्वर-सत्ता स्फुरित है, चैतन्य या मन में भी उसी प्रकार ईश्वर-सत्ता स्फुरित है। इसलिये जब कभी मन के भीतर कोई घटना घटेगी, उस समय देह के अन्दर भी इसके अनुरूप कुछ घटित होगा। इसी प्रकार जब देह के अन्दर कुछ घटित होगा, उस समय मन के भीतर भी कोई अनुरूप घटना होगी। अर्थात् प्रत्येक घटना दैहिक है और साथ ही साथ मानसिक भी। इसलिये देह और मन परस्पर-विरोधी नहीं हैं, एक ही मनुष्य को दो रूप में ये व्यक्त करते हैं। चैतन्य या मन ही आकार रूप में जड़ या देह है; और जड़ या देह निराकार रूप में चैतन्य या मन है। इनमें से कोई किसी पर निर्भर नहीं—इनमें कार्य-कारण का कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु इनमें एक पारस्परिक संगति विद्यमान है। जल, स्थल, उद्भिज, प्राणी में, विश्व के सब कुछ में, इस जड़-चैतन्य के माध्यम से ईश्वर का ही प्रकाश है। इसलिये स्पिनोजा की दृष्टि में जड़ और चैतन्य में कार्य-कारण का सम्बन्ध नहीं है। दोनों के बीच एक ही भगवत्-सत्ता स्पन्दित है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मानसिक तथा शारीरिक घटनाओं का समानान्तर अवस्थान है, सहयोग के लिये इनके परस्पर मिलन की कोई प्रयोजनीयता नहीं है। क्योंकि जड़ और चैतन्य में, अथवा शरीर और मन में, एक ईश्वर का भाव ही स्फुरित हो रहा है। इस मतवाद को समान्तरवाद (Parallelism) अथवा द्विभंगिवाद (double aspect theory) कहा जाता है।

प्रकारतत्व अथवा आश्रयी-पदार्थ का स्वरूप

जड़ और चैतन्य को ईश्वर के दो गुणों के रूप में वर्णन कर अव स्पिनोजा

प्रकारतत्व की आलोचना में प्रवृत्त हुए। उनके मतानुसार पृथ्वी के ये अनेक और विचित्र वस्तु परमपदार्थ के ही नाना रूप में प्रकाश हैं। परम पदार्थ या ईश्वर ने नाना प्रकार से मनुष्य के सम्मुख अपने को प्रकाशित किया है। इसलिये विश्व के यावतीय पदार्थ ईश्वर के ही 'प्रकार' हैं। ईश्वर सब वस्तुओं का आश्रय है और वस्तुमात्र है आश्रयी। आश्रय और आश्रयी का सम्बन्ध इस प्रकार है कि आश्रय को छोड़कर आश्रयी की स्वत न्त्र, ए थक सत्ता नहीं है। ईश्वर का अवलम्बन कर विश्व के सब कुछ का अस्तित्व है; ईश्वर को छोड़कर उनका कोई स्वतन्त्र जीवन नहीं है। अर्थात् आश्रयी पदार्थ प्रतीयमान दृष्टि से अपनी विशिष्टता के कारण पृथक् जान पड़ने पर भी वास्तव में निज आश्रय ईश्वर को छोड़ और कुछ नहीं हैं। समुद्रतरंग समुद्र से पृथक् है, उसकी अपनी विशिष्ठता है; उसकी विशिष्ठता ही उसका तरंगत्व है। तथापि तरंग समुद्र का ही तरंग है, समुद्र का ही 'प्रकार' है; समुद्र का ही एक विशेष प्रकाश है। समग्रता की दृष्टि से तरंग समुद्र छोड़-कर और कुछ नहीं है। तरंग को स्पर्श करना समुद्र को ही स्पर्श करना है। इसी तरह विश्व की नाना प्रकार की वस्तुएँ ईश्वर की ही प्रकार हैं। रूप के अन्दर से ही अरूप का निरन्तर विकास होता है। असीम के रूप में जो ईश्वर है (natura naturans), सीमा के रूप में वही 'प्रकार' है (natura naturata)।

ईश्वर का एक प्रकार है जड़ और दूसरा है चैतन्य। जड़, गति और स्थिति के बीच से आत्म-प्रकाश करता है और चैतन्य, बुद्धि और संकल्प के बीच से। इसलिये हमारा जगत, गति, बुद्धि और संकल्प का जगत है। जड़ और चैतन्य भी हमारे निकट सीमाहीन हैं, क्योंकि उनके आदि और अन्त का

हमें कोई सन्धान नहीं मिलता। गति के बीच असंख्य जड़ वस्तुओं का उद्‌भव हो रहा है और संकल्प तथा बुद्धि के बीच असंख्य मन-विशेषों की सृष्टि हो रही है। गति स्वयं अनन्त है, परन्तु पृथ्वी के खण्ड-द्रव्यों में इसका जो सञ्चालन है, उनकी उत्पत्ति और उनका लय है। इसी प्रकार बुद्धि अपने रूप में अनन्त है, परन्तु मनुष्य में इसका खण्ड-प्रकाश मात्र है, यहां यह जन्म-मृत्यु-मय है। मनुष्य का मन अनन्त चैतन्य का विशेष प्रकाश है, और उसका शरीर अनन्त जड़ का विशेष प्रकाश है। परन्तु मन और देह समानान्तर प्रकाश हैं (Parallel Expressions), इसलिये प्रत्येक मन के अनुरूप एक देह होता है और प्रत्येक देह के अनुरूप एक मन होता है। मन शरीर से रूपान्वित होता है; शरीर के बिना मन का अस्तित्व सम्भव नहीं। अर्थात् शरीर के लिये ही मन है और मन के लिये ही शरीर।

स्पिनोजा का व्यावहारिक दर्शन

प्रकार तत्व की आलोचना में स्पिनोजा ने कहा है कि प्रकार की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अनन्त परम पदार्थ की सत्ता में ही प्रकार की सत्ता है। परन्तु यहां यह प्रश्न उठता है, कि जगत में जितनी विभिन्न प्रकार की वस्तु है; क्या ये सब हमारे मन की भ्रांति मात्र हैं; हम तो मनुष्य, पेड़, पुस्तक इनको उन्हीं के रूप में देखते हैं और यह भी मानते हैं कि ये एक दूसरे से पृथक् हैं। हमको इनमें ईश्वर का अनुभव नहीं होता है। यदि इस जगत के वस्तु-वैशिष्टय को हम अग्राह्य करें तो सब कुछ एकाकार हो जायगा। यहां तक कि मनुष्य का मन भी मिथ्या हो जायगा। परन्तु स्पिनोजा के अनुसार ऐसा नहीं

हो सकता। स्पिनोजा को यह विश्वास था कि मनुष्य का मन सीमाबद्ध और ज्ञानहीन है, तथापि इस सीमा में ही सीमा को अतिक्रमण करने की एक शक्ति है। अपूर्णता में ही पूर्णता की ओर अग्रसर होने की शक्ति है। मनुष्य का मन अपने को मिथ्या और भ्रान्ति से मुक्त कर पूर्णज्ञान का अधिकारी हो सकता है। इस पूर्णज्ञान के आलोक में विश्व की अनन्तता और परिपूर्णता की उपलब्धि होती है। उस समय हम जो देखते हैं, वह मनुष्य की खण्डित दृष्टि से नहीं, बल्कि ईश्वर की अनन्त दृष्टि से ही देखते हैं। इसलिये सीमा के बीच से मिथ्या को न देखकर, भूमा के बीच से सत्य का साक्षात् करते हैं।

अपने व्यावहारिक दर्शन में स्पिनोजा ने मनुष्य-ज्ञान को तीन स्तरों में विभक्त किया है। एक स्तर का अतिक्रमण कर तब दूसरे स्तर पर पहुंचा जा सकता है। पहिला स्तर है, इन्द्रियलब्ध्य ज्ञान। पंचेन्द्रियों के द्वारा हम बाहरी जगत से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस ज्ञान में कुछ अस्पष्ट धारणा, कुछ संस्कार और कुछ कल्पना का भी मिश्रण होता है। यह ज्ञान का प्रथम स्तर है। बुद्धि द्वारा विचार का इसमें कोई स्थान नहीं है।

ज्ञान के द्वितीय स्तर पर बुद्धि की क्रिया की ही प्रधानता है। यह ज्ञान युक्तिसिद्ध है। यह ज्ञान हमको इन्द्रियजात अभिज्ञता के ऊपर ले जाता है और पृथ्वी की नाना प्रकार की वस्तुओं में जो पारस्परिक संबंध है, उसका ज्ञान हमें प्राप्त होता है। परन्तु स्पिनोजा की दृष्टि में यह बुद्धि-प्रदत्त ज्ञान भी श्रेष्ठ ज्ञान नहीं है। क्योंकि यद्यपि यह विभिन्न पदार्थों के विषय में हमको अवगत कराता है, तथापि विश्व का समष्टिगत रूप और इसकी बहुता और विचित्रता के पीछे जो मौलिक एकता है, इनका संधान वह नहीं दे सकता।

विश्व की पूर्णतम सत्ता को जानने के लिये, भूमा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें ज्ञान के तृतीय स्तर पर आरोहण करना होगा। यह बुद्धि के अतीत है, यह अतिमानस (Intuition) है। इस ज्ञान से परम पदार्थ या ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है। अतिमानस के प्रकाश में एक अखण्ड सत्ता में विश्व का भास होता है।

मनुष्य की विभिन्न ज्ञानभूमि की उपरोक्त आलोचना से यह सूत्र निकलता है कि मनुष्य अज्ञानता की सीमा का अतिक्रमण कर वास्तविक ज्ञान का लाभ कर सकता है। उसमें यह सम्भावना है। स्पिनोजा ने यह भी दिखलाया है कि ज्ञान के इस श्रेष्ठ स्तर पर ही परमानन्द की प्राप्ति होती है। मनुष्य जीवन के वास्तविक सुख और शान्ति इसी ज्ञान पर निर्भर है। यही ईश्वर-प्रेम को उत्पन्न करता है। स्पिनोजा के अनुसार यह प्रेम अन्ध-संस्कारमूलक आकर्षण नहीं है। भगवान के प्रति मनुष्य का यह प्रेम, मनुष्य के बीच भागवत प्रेम का ही प्रकाश है। ईश्वर का अपने प्रति जो प्रेम है, वही अतिमानसमें ईश्वर के प्रति मनुष्य के प्रेम के रूप में प्रकाशित होता है। मनुष्य के साथ भगवान के इस नित्य सम्बन्ध की प्रकृति से ही हम जान सकते हैं कि मनुष्य की चरम सार्थकता कहां है। शुद्ध ईश्वर-प्रेम में ही मनुष्य की चरम सार्थकता है।

इन्द्रियों के बन्धन से मुक्ति-लाभ कर ईश्वर में अपने को प्रतिष्ठित करने में ही मनुष्य जीवन की वास्तविक सार्थकता है। अपने स्वरूप को जानने की चेष्टा करना ही स्पिनोजा के अनुसार मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है। परन्तु मनुष्य जीवन की इस सार्थकता के मार्ग को कौन खोज मिकालेगा? और कौन मार्ग प्रदर्शन करेगा? स्पिनोजा का उत्तर है मनुष्य की बुद्धि। बुद्धि ही, इन्द्रियों के

आह्वान की उपेक्षा कर, मनुष्य को परम सत्य की ओर ले जाता है। परम सत्य को जानने के लिये मनुष्य में जो स्वाभाविक व्याकुलता है, उसी के द्वारा मनुष्य यह जान लेता है कि इन्द्रिय मार्ग से हमें जो मिलता है, वह सत्य नहीं है, बल्कि सत्य का स्थूल आवरण मात्र है। तब मनुष्य की दृष्टि बाह्य जगत से मुड़ कर अंतर्मुखीन हो जाती है। परन्तु उस अन्तर्जगत में भी सीमा का विरोध उसकी सार्थकता के मार्ग में बाधा की सृष्टि करता है। तब मनुष्य को बुद्धि का मार्ग छोड़कर अन्य किसी मार्ग से सत्य का संधान करना पड़ता है। तब उसको अतिमानस का आश्रय लेना पड़ता है। स्पिनोजा के अनुसार एक ही सत्य को हम दो विभिन्न दृष्टियों से देखते हैं। एक अखण्ड दृष्टि और दूसरा खण्डदृष्टि। अखण्ड दृष्टि से हम पूर्णता का दर्शन करते हैं, और खण्ड दृष्टि से हम बहु की विचित्रता को देखते हैं। पहिली दृष्टि पारमार्थिक दृष्टि है और दूसरी व्यावहारिक।

अतएव जगत में मनुष्य का इतिहास केवल जन्म-मृत्यु का इतिहास मात्र नहीं है। उसके जीवन की एक सार्थकता है। उसके खण्ड-जीवन में एक ऐसी सम्भावना है, जिसके द्वारा वह सीमा के बन्धन को पार कर सकता है। स्पिनोजा का कहना है कि निम्न स्तर के प्राणियों में भी यह सम्भावना विद्यमान है। यह सम्भावना ही मनुष्येतर प्राणियों में सहज प्रवृत्ति का रूप ग्रहण करती है। मनुष्यों के इच्छा और संकल्प के रूप में यह प्रकाशित है। पशुओं में जो अन्ध प्रवृत्ति है, मनुष्यों में वही इच्छाकृत कर्म है। जब यह कर्म-वेग मनुष्य के आयत्त के बाहर हो जाता है, तब वह कर्म-उन्मत्तता हो जाता है। साधारणतः मनुष्य इस उन्मत्तता का दास है। स्पिनोजा का कहना है कि मनुष्य को भावावेग के ऊपर उठना होगा, क्योंकि भावावेग

(Emotion) अपरिस्फुट धारणा मात्र है। पहिले बुद्धि के द्वारा कर्मोन्माद और भावावेग पर विजय प्राप्त करना होगा, तभी बुद्धि के अतीत हम पहुंच सकते हैं। सीमा के जानने में ही सीमा को पार करने का संकेत है। ज्ञान के माध्यम से ही पूर्णता का लाभ होगा और चरम ज्ञान ईश्वर को जानना ही है। स्पिनोजा कहते हैं कि सुख कर्तव्य का पुरस्कार नहीं है, कर्तव्य ही सुख है। यह कर्तव्य, यह सुख, मनुष्य की यह परम सार्थकता, ईश्वर प्रेम से ही मिलते हैं।

स्पिनोजा के दर्शन में कुछ विशेषताएं ध्यान देने योग्य हैं। पहिली विशेषता है, उनके दर्शन की गाणितिक पद्धति। उन्होंने सोचा था कि उखलैजस की भांति वह भी इसी पद्धति से सत्य को पहुंच सकेगा। परन्तु वैज्ञानिक क्षेत्र में गाणितिक पद्धति की जो मर्यादा है, दर्शन के क्षेत्र में वैसा नहीं है। ज्यामितिशास्त्र बिना विचार के ही यह स्वीकार कर लेता है कि देश काल का एक जगत है। परन्तु दर्शन में केवल अस्तित्व को मान लेने से ही काम नहीं चलता है। दर्शन में यह भी अनुसंधान का विषय है कि क्या है और क्यों है। स्पिनोजा ने पहिले ही कुछ निर्वचनों (Definitions) को स्वीकार कर लिया है। किन्तु क्यों केवल उन्हीं को स्वीकार किया है, इसका कोई कारण नहीं दिया है।

जड़ और चैतन्य--परम पदार्थ के दो गुण हैं, यह स्पिनोजा ने कहा है, परन्तु परम पदार्थ के साथ इन गुणों का सम्बन्ध किस प्रकार का है, इसकी व्याख्या उन्होंने अच्छी तरह नहीं की है। यदि परम पदार्थ निर्गुण है, तो जड़ और चैतन्य मन की माया छोड़ और कुछ नहीं हैं। यदि परम पदार्थ सब गुणों का आकर है, तो गुण सत्य है और ईश्वर गुणातीत नहीं हैं। इसके

अतिरिक्त यदि ईश्वर मनुष्य के सामने जड़ और चैतन्य, केवल इन्हीं दो रूपों में प्रकट होते हैं, तो वह क्यों केवल इन्हीं दो रूपों में प्रकट होते हैं, किसी अन्य तृतीय रूप में प्रकट क्यों नहीं होते ? स्पिनोजा ने कहा है कि मनुष्य का मन ईश्वर के केवल दो गुणों को जान सकता है––पहिला चैतन्य और दूसरा जड़। परन्तु "जान सकता है", इस वाक्य से यही मान लिया जाता है कि जानने के पहिले ही जानने वाला मन का अस्तित्व है। अर्थात् ईश्वर को जानने के लिये ईश्वर के बाहर मन वर्तमान है। मन तो चैतन्य का ही प्रकार है, तो चैतन्य के उदय के पहिले ही उसके 'प्रकार' का उदय किस प्रकार हुआ ? और भी देखने की बात यह है कि यद्यपि जड़ और चैतन्य को स्पिनोजा ने ईश्वर का ही दो भिन्न प्रकाश माना तथापि चैतन्य को ही उन्होंने प्रधानता दी है। क्योंकि चैतन्य के द्वारा ही जड़ और चैतन्य दोनों का ज्ञान होता है।

पृथ्वी की बहु और विचित्र वस्तुओं को स्पिनोजा ने ईश्वर का विभिन्न प्रकाश कहा है। परन्तु यह प्रकाश कैसे हुआ और एक ने किस प्रकार बहु का आकार प्राप्त किया, यह हम नहीं जान सकते। हम केवल यह जानते हैं कि एक ही में इनका अवस्थान है। जिस प्रकार त्रिभुज के निर्वचन में ही त्रिभुज के सब गुण विद्यमान हैं, ठीक वैसा ही। स्पिनोजा का परम पदार्थ निष्क्रिय और स्थितिशील ही जान पड़ता है। केवल यही नहीं समालोचकों ने स्पिनोजा के इस 'परम पदार्थ' को कहा है अमूर्त (Abstract) और पूर्णता की एक गाणितिक सीमामात्र (Mathematical Limit)। यह सत्य मनुष्य की अभिज्ञता में मूर्त नहीं हो पाता।

परन्तु स्पिनोजा के ईश्वर-तत्व में एक गूढ़ सत्य निहित है। असीम के साथ सीमा का जो सम्बन्ध है, सीमा के द्वारा उसको निर्धारित नहीं किया

जा सकता। इन्द्रिय, मन और बुद्धि की सीमा के भीतर यदि हम परम सत्य को डाल नहीं सकते तो हमें उस सीमा को पार करना ही होगा। किन्तु यह ठीक नहीं कि परम सत्य की उपलब्धि करने के लिये सीमा को अतिक्रमण करने से वह मिथ्या, या काल्पनिक या शून्य हो जायगा। नाम और रूप की सीमा में डाल कर ही मन किसी वस्तु की जानकारी करता है। इसलिये अनन्त परम तत्व का सन्धान अतिमानस में ही सम्भव है। हम असीम का एकान्त चाहते हैं, परन्तु हम उसे चाहते हैं, सीमा के भीतर—यही मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का ट्राजेडि है। स्पिनोजा ने सीमा और असीम के इस सम्बन्ध की ही चर्चा की है। परमतत्व के विषय में मूर्त-अमूर्त, स्थितिगति और गुण-निर्गुण का प्रश्न असीम को सीमा के बीच पाने का ही प्रश्न है। इन प्रश्नों की निवृत्ति से ही यह जान पड़ेगा कि सत्य का प्रकाश हो रहा है। क्योंकि प्रश्न मानस का ही धर्म है। अतिमानस में प्रश्न नहीं है, प्रकाश है। स्पिनोजा का ईश्वर-तत्व, पाश्चात्य विचारधारा में एक व्यक्तिक्रम ही जान पड़ता है। इसलिये स्पिनोजा का दार्शनिक तत्व बुद्धिवादी पाश्चात्य विचार-धारा के नीचे दब गया। कोई पाश्चात्य दार्शनिक आज तक उसका पुनरुद्धार नहीं कर सके। पाश्चात्य बुद्धि ने यह मान लिया है कि विचार मार्ग से जो नहीं मिलता, वह पूर्ण नहीं शून्य है।

जो कुछ हो, स्पिनोजा ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिक विचार को और गम्भीर तथा व्यापक बनाया है। जड़ और चैतन्य को एक ही तत्व के दो प्रकाशों के रूप में रखकर उन्होंने द्वैतवाद की समस्या को लघु किया है और इससे परवर्ती दार्शनिकों को नये मार्ग का सन्धान मिला है। किसी नये दार्शनिक प्रतिष्ठान का निर्माण तो स्पिनोजा ने नहीं किया, परन्तु योरोप की परवर्ती

दार्शनिक-विचारधारा पर उनका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। जर्मन दार्शनिक हेगेल ने यथार्थ ही कहा है कि दार्शनिक होने के लिये पहिले स्पिनोजा का शिष्यत्व ग्रहण करना पड़ेगा।

पठनीय

स्पिनोजा-लिखित :--Ethics--Translated by W. H. White.

Chief Works--Translated by R. H. Elwes.

Spinoza selections—Edited by J. Wild (Scribners)

सहज-प्रवेशिका :--The Story of Philosopy--Will Durant.

Spirit of Modern Philosopy --Josiah Royce.

The Philosophy of Spinoza--J. Ratner.

आलोचनात्मक :—Spinoza--J. Caird.

A Study of Spinoza--J. Martineau.

Spinoza, His Life and Philosophy —Pollock.

The Philosophy of Spinoza --H. A. Wolfson (2 vols.)

A Study of the Ethics of Spinoza H. H. Joachim.

Spinoza--L. Roth.
Spinoza--Picton.
The Philosephy of Spinoza
--R. M. McKeon.
Spinoza's Political and Ethical
Philosophy--R A. Duff.

गॅटफ्रिड व्हिलहेल्म लाइबनिट्स
(Gottfried Wilhelm Leibnitz 1646-1716)

[जर्मनी के लाइपज़िग नगर में लाइबनिट्स का जन्म हुआ। उनके पिता स्थानीय विश्वविद्यालय में दर्शन के अध्यापक थे। केवल ६ वर्ष की अवस्था में उनके पिता की मृत्यु हुई, परंतु यथेष्ट पैत्रिक सम्पत्ति होने के कारण उन्हें कभी अर्थ-चिन्ता नहीं हुई। उनके पिता के पुस्तकागार से भी ज्ञानार्जन में उन्हें बहुत सहायता मिली। स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार ही उन्होंने अपना अध्ययन सम्पन्न किया, और स्वल्प समय में ही लैटिन और ग्रीक में उन्होंने पाण्डित्य प्राप्त किया। १४ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने विश्वविद्यालय में प्रवेश किया और ६ वर्ष दर्शन और कानून के अध्ययन के बाद वह आचार्य उपाधि के योग्य विवेचित हुए। परन्तु इतनी थोड़ी उम्र में उपाधि देने को विश्वविद्यालय सम्मत नहीं हुआ। तब आल्टडर्फ विश्वविद्यालय ने उन्हें उपाधि दी और अध्यापक का पद देने की भी उसने स्वीकृति दी। लाइबनिट्स ने यह पद ग्रहण नहीं किया और स्वतन्त्र रूप

से ज्ञान-चर्चा करने का उन्होंने निश्चय किया। २१ वर्ष की अवस्था में राजनीतिक विभाग में एक जिम्मेदारी का पद उन्होंने ग्रहण किया। उनके व्यावहारिक जीवन के कामों में असाधारण बहुमुखी प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है। गणित, पदार्थ विद्या, दर्शन, न्याय, कानून, धर्मशास्त्र, यहां तक कि आधुनिक गाणितिक न्याय (Mathematical Logic) के भी वह पण्डित थे। वही व्यासकलन और समासकलन (Differential and Integral Calculus) के आविष्कारक हैं। विलायत की रॉयल सोसाइटी और पेरिस की एकाडेमी ने उन्हें सदस्य नामज़द किया था। असंख्य पत्रों में और अपने मित्रोंके लिये प्रस्तुत किये गये उनके स्वल्पायतन वक्तव्यों में ही लाइबनिट्स का दार्शनिक मतवाद निहित है। मनुष्य की अभिज्ञता के सब तथ्य उनके ज्ञान के विषय थे। उन सब और विचित्र अभिज्ञताओं में समन्वय का प्रयास उनके दर्शन का प्रधान लक्षण है। १७१६ ई० में लाइबनिट्स की मृत्यु हुई।]

जड़ और चैतन्य को पृथक् कर देकार्ते ने द्वैतवाद की सृष्टि की, और स्पिनोजा ने ईश्वर के दो प्रकाश के रूप में रखकर जड़ और चैतन्य के इस द्वैतवाद की समस्या को लघु करने की चेष्टा की। परन्तु स्पिनोजा के इस प्रयास से यह भी प्रमाणित होता है कि द्वैतवाद को न स्वीकार करते हुए भी उन्होंने यह मान लिया था कि साधारण लोगों के लिये न तो चैतन्य जड़ है और न जड़ चैतन्य। उन्होंने मानवीय व्यावहारिक ज्ञान में जड़ और चैतन्य की पृथकता को स्वीकार किया है, परन्तु पारमार्थिक ज्ञान में इनके अस्तित्व को ही अस्वीकार किया है। इसलिये व्यावहारिक अर्थात् हम लोगों का यह इन्द्रियग्राह्य जगत और पारमार्थिक अर्थात् अतीन्द्रिय ईश्वर का जगत

इन दोनों का द्वैतभाव तो रहा ही। जड़ और चैतन्य की समस्या के समाधान के लिये इनकी मौलिक एकता का सन्धान करना होगा। यह दो प्रकार से सम्भव है—या तो जड़ के द्वारा चैतन्य की व्याख्या, या चैतन्य के द्वारा जड़ की व्याख्या। इसी को अन्य रूप में कहा जा सकता है—वस्तु द्वारा भाव की व्याख्या अथवा भाव के द्वारा वस्तु की व्याख्या। अर्थात् या तो वास्तववाद (Realism) को ग्रहण करना होगा, नहीं तो भाववाद (Idealism) का आश्रय लेना होगा। हां, ऐसा भी हो सकता है कि जड़ और चैतन्य दोनों के अतीत इस परम ऐक्य का सन्धान मिलें। स्पिनोजा ने यही चेष्टा की थी और इसीलिये पाश्चात्य मानस इसे ग्रहण न कर सका। यदि केवल एक ही पदार्थ को एकमात्र सत्य मान लिया जाय तो दो के बीच सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। स्पिनोजा ने यही किया था, परन्तु लाइबनिट्स ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने एक दूसरे समाधान का आश्रय लिया। समाधान यह था कि जड़ और चैतन्य की गुणगत विषमता को स्वीकार करते हुए भी उनके पृथक् अस्तित्व को अस्वीकार करना।

लाइबनिट्स के दर्शन का प्रारम्भ इस प्रश्न से है कि जिन वस्तुओं को हम पृथ्वी में देखते हैं, उनका वास्तविक स्वरूप क्या है? पदार्थ का स्वरूप या उसकी सत्ता न केवल जड़ हो सकती है और न केवल चैतन्य। क्योंकि ऐसा होने से दूसरे की व्याख्या असम्भव हो जाती है। लाइबनिट्स ने यह भी दिखाया कि यदि देकार्ते के मतानुसार यह सत्य हो कि मन का धर्म ही चैतन्य है—अर्थात् चैतन्य न रहने पर मन नामक कोई पदार्थ रह नहीं जाता—तो जब गहरी नींद के समय मनुष्य चैतन्य नहीं रहता तो क्या उस समय मन का अस्तित्व भी नहीं रहता है? लाइबनिट्स के अनुसार यह असम्भव है। इसे

छोड़कर जड़ जगत में भी कुछ घटनाएं हैं, जिनको जड़ नहीं कहा जा सकता। देकार्ते के अनुसार जड़ का धर्म है विस्तार, परन्तु इनकी विस्तृति नहीं है। उत्ताप, आलोक, बिजली, शब्द, आकर्षण और विकर्षण इनकी तो कोई विस्तृति नहीं है। तो क्या ये जड़ नहीं हैं? परन्तु ये चैतन्य भी तो नहीं हैं। तब ये क्या हैं? लाइबनिट्स ने यह दिखाया कि वास्तव में विस्तृति जड़ का धर्म नहीं है। क्योंकि विस्तृति के द्वारा हम इस गतिमान जड़ जगत के स्वरूप को समझ नहीं सकते।

चेतन-परमाणु तत्व (Theory of Monads)

उपर्युक्त आलोचना के सिलसिले में लाइबनिट्स इस सिद्धान्त पर उपनीत हुए कि यदि जड़ कहने से विस्तार का बोध होता है, तो यह जड़त्व पदार्थ की सत्ता (Essence) नहीं हो सकती। जो परम सत्ता (Ultimate Essence) है, वह अमूर्त न होकर मूर्त होगी, अर्थात् वह हमारी अनुभूति का अंग होगी। वह अजड़ और क्रियाशील होगी और उसे क्षुद्रतर अंश में विभक्त नहीं किया जा सकेगा।—वह होगी अविभाज्य। लाइबनिट्स के अनुसार 'शक्ति' में ही ये सब गुण हमें मिलते हैं। जड़ तथा चैतन्य दोनों में इस शक्ति या क्रियाशीलता का अस्तित्व है। जड़ पदार्थ से हमें जो निष्क्रियता अथवा अचेतनता का बोध होता है, वह सही नहीं। जड़ का धर्म स्थितिशीलता या अचेतनता नहीं है, इसका धर्म है, क्रियाशीलता। जड़ के रूप में हम जिस पदार्थ में विस्तार पाते हैं, वह वास्तव में शक्ति का ही मूर्त रूप है। शक्ति घनीभूत होकर जड़ पदार्थ का आकार ग्रहण करती है। अतएव लाइबनिटस के अनुसार विस्तृत होकर रहना ही जड़ का धर्म नहीं है, उसका

धर्म है, बाधा देने की शक्ति (Resistance)। इसी प्रकार मन का भी धर्म है, शक्ति या क्रियाशीलता। यह जो शक्ति जड़ या चैतन्य दोनों में विराजमान है, वही पदार्थ की परम सत्ता है। लाइबनिट्स ने इसका नाम दिया है, 'चेतन परमाणु' (Monads)। यह चेतन परमाणु या मोनाड गणितशास्त्र के बिन्दु की तरह प्रमूर्त नहीं है। साथ ही यह परमाणु (Atom) की तरह निष्क्रिय जड़ पदार्थ भी नहीं है। चेतन परमाणु मूर्त है और अजड़ है।

इसके अनन्तर लाइबनिट्स ने चेतन परमाणुओं की विशेषताओं का वर्णन किया है। शक्ति ही परम पदार्थ है, परन्तु यह परम पदार्थ एक नहीं है। अर्थात् मूल आधार के रूप में एक ही शक्ति विश्व की सब वस्तुओं का आकार है, ऐसा नहीं। यदि ऐसा हो तो स्पिनोजा का परम पदार्थ ईश्वर के साथ इसकी कोई पृथकता ही न रहे। इसलिये लाइबनिट्स ने कहा कि परम पदार्थ एक नहीं अनेक हैं। हमारी अभिज्ञता यही है कि प्रत्येक वस्तु की एक विशिष्टता है, उसकी अपनी जीवन-धारा है। ऐसी ही असंख्य वस्तुओं से हमारी दुनिया भरी हुई है। लाइबनिट्स के अनुसार ये असंख्य वस्तु असंख्य शक्ति केन्द्र छोड़कर और कुछ नहीं। अर्थात् असंख्य चेतन परमाणुओं की समष्टि यह दुनिया है।

चेतन परमाणु अपने-अपने नियम पर चलते हैं। उनकी जीवन-यात्रा में अन्य किसी का प्रभाव नहीं है और न एक चेतन परमाणु अन्य किसी चेतन परमाणु पर अपना प्रभाव विस्तार कर सकता है। इसलिये लाइबनिट्स ने उपमा के रूप में इनको कहा है "गवाक्षहीन" (Windowless)। प्रत्येक चेतन परमाणु स्वयं सम्पूर्ण है और सम्पूर्ण रूप से स्वयं नियन्त्रित है।

प्रत्येक चेतन परमाणु मानों एक-एक स्वतन्त्र दुनिया है और अपने नियमों के अनुसार परिणति लाभ करता है। परन्तु स्वतन्त्र और पृथक् होने पर भी प्रत्येक परमाणु अन्य सब परमाणुओं का प्रतिरूप है। इसलिये उस परमाणु के लिये अपने को सम्पूर्ण रूप से जानने से ही अखिल विश्व का ज्ञान उसे प्राप्त हो जाता है। चेतन परमाणु मानों अपने जीवन में विश्व के सारे अतीत और भविष्य को ढो चला है। एक सजीव दर्पण की भांति वह अपने बीच विश्व को प्रतिफलित करता है। विराट (Macrocosm) अनु (Microcosm) के बीच प्रतिफलित हो रहा है।

चेतन परमाणु निष्क्रिय जड़ पदार्थ नहीं; इनकी ईक्षण-शक्ति (Power of Perception) है। परंतु सबकी ईक्षण-शक्ति एक समान नहीं। निम्न-स्तर के चेतन परमाणुओं की ईक्षण-शक्ति अत्यन्त मृदु है, उनमें चेतनता का आभासमात्र है। उच्चस्तर के चेतन परमाणुओं में ईक्षण-शक्ति ने अधिक पूर्णता लाभ की है। सचेतनता क्रमशः विकास प्राप्त होकर, इस स्तर पर आत्मसचेतनता (Apperception) में परिणत होती है। इसलिये लाइबनिट्स के अनुसार परमाणुओं में चैतन्य का क्रम विकास हुआ है और इसीलिये ईक्षण-शक्ति के परिमाण भेद में ये असंख्य हैं। सबमें ईक्षण-शक्ति रहने के कारण जगत में निष्क्रिय जड़पिण्ड कुछ नहीं है; स्थावर और जंगम में जो गुणगत पार्थक्य है, उसका भी लोप हुआ। लाइबनिट्स ने जड़ को ही सजीव नहीं किया, बल्कि मन की परिधि को भी व्यापक बना दिया।

पहिले ही कहा जा चुका है कि प्रत्येक चेतन परमाणु अपने बीच से विश्व को प्रतिफलित करता है। परन्तु चूंकि चेतन परमाणुओं की ईक्षण-शक्ति

में विभिन्नता है, इसलिये इस प्रतिफलन में भी कम या बेशी का अन्तर है। चेतन परमाणु अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार विश्व को प्रतिफलित करते हैं। जिनमें ईक्षण-शक्ति का विशेष विकास हुआ है, वे चेतन परमाणु विशेषरूप से क्रियाशील हैं। प्रत्येक चेतन परमाणु में निष्क्रियता और सक्रियता दोनों ही हैं। इस निष्क्रियता और सक्रियता के द्वन्द्व के बीच से ही उसकी गति भी है और परिणति भी। चेतन परमाणु मानो जड़ चेतन के द्वन्द्व का मूर्त प्रतीक है। निम्नतम से उच्चतम परमाणु तक एक निरवच्छिन्न क्रम है। इस निरवच्छिन्नता के नियम (Law of Continuity) के अनुसार विश्व में कहीं रिक्त स्थान नहीं है, कहीं आकस्मिकता नहीं है, और न कहीं पुनरावृत्ति ही है। जगत में कोई दो वस्तु बिलकुल एक-सी नहीं हैं, यहां तक कि प्रत्येक वृक्षपत्र और प्रत्येक तृण अपने निजी छन्दों के साथ अपने-अपने उद्देश्यों के साधन के लिये विश्व में अपनी जगह कर ली है। चेतन परमाणुगण केवल क्रियाशील हैं, ऐसा नहीं, इनमें एक अभिव्यक्ति की शक्ति है, जिसके द्वारा ये उच्चस्तरों पर आरोहण कर सकते हैं। लाइबनिट्स के अनुसार जगत एक चरम उद्देश्य के नियम (Law of Final Causes) के द्वारा संचालित हो रहा है। इस नियम को आश्रय कर ही जगत की अभिव्यक्ति हो रही है। इसी का परिणाम है कि विश्व का प्रत्येक पदार्थ अपने चरम उद्देश्य को सफल करने के लिये उन्मुख है। कोई सज्ञान ऐसा कर रहा है और कोई अज्ञानता-पूर्वक ही ऐसा कर रहा है। इसलिये ज्ञान में हो या अज्ञान में विश्व के सब पदार्थ विशेष परिणति की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इसी का फल है कि चेतन-परमाणुओं में एक क्रम-अभिव्यक्ति हो रही है। इस क्रम-अभिव्यक्ति अथवा

क्रम-विकास के असंख्य स्तरों में से लाइबनिट्स ने कुछ प्रधान स्तरों का उल्लेख किया है ।

निम्नस्तर के चेतन परमाणुओं में केवल बोध-शक्ति है । जगत का कोई पदार्थ भी सम्पूर्ण अचेतन नहीं, इसलिये इनको कहना होगा प्रायः—अचेतन। लाइबनिट्स ने इनका नाम दिया है, निद्रित चेतन परमाणु । मिट्टी, पत्थर और लकड़ी आदि इसी स्तर के अन्तर्भुक्त हैं । इसके ऊपर के स्तर के चेतन परमाणु अर्द्ध सचेतन हैं । लाइबनिट्स ने इनका नामकरण किया है, स्वप्न-स्थित चेतन-परमाणु । उद्भिज जगत इसी स्तर के अन्तर्भुक्त है । इसके ऊपर के स्तर के चेतन परमाणुओं को जाग्रत चेतन परमाणु कहा गया है । ये सचेतन हैं और इनको लेकर ही जीव-जगत संगठित है । इस जीव-जगत में मनुष्य का स्तर है उच्चतम । चेतन-परमाणु यहां केवल सचेतन ही नहीं, बल्कि आत्म-सचेतन (Self-Concious) है ।

इन असंख्य विभिन्न चेतन-परमाणुओं की क्रियाशीलता में भी अन्तर है । चेतन परमाणु जड़धर्मी भी है, और चैतन्यधर्मी भी । चैतन्य का विकास जिसमें अधिक है, क्रियाशीलता भी उसकी उतनी अधिक है । तथापि प्रत्येक चेतन परमाणु में ही निष्क्रियता या जड़ता का अस्तित्व होने के कारण कोई भी पूर्ण क्रियाशील नहीं है । क्रम विकास के उच्चतम प्रान्त में जो चेतन परमाणु है, वही सम्पूर्ण रूप से जड़ता-वर्जित है, पूर्ण चैतन्यमय है; और पूर्ण क्रियाशील है । यह पूर्ण चैतन्यमय चेतन परमाणु ही ईश्वर है । ईश्वर चेतन परमाणुओं में श्रेष्ठतम और पूर्णतम है, और उसकी ईक्षण-शक्ति अबाध और स्वच्छ है । अन्य चेतन परमाणुओं के साथ ईश्वर का यही पार्थक्य है । अन्य किसी के ज्ञान में सत्य का अबाध प्रकाश नहीं है, मिथ्या के आवरण से

वह अस्पष्ट है। परन्तु ईश्वर के ज्ञान में सत्य का नियत और पूर्ण प्रकाश है।

पूर्वस्थापित छन्द (Pre-established Harmony)

हम पहिले से ही यह जानते हैं कि लाइबनिट्स के अनुसार यह विश्व असंख्य चेतन-परमाणुओं द्वारा संगठित है, और ये चेतन परमाणु मानों क्षुद्र, स्वतन्त्र और स्वयंसम्पूर्ण जगत हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि देकार्ते के दर्शन में जड़ और चैतन्य केवल इन दो पदार्थों की सम्बन्ध-समस्या ने कैसा जटिल रूप धारण किया था। इसलिये लाइबनिट्स के इन असंख्य स्वतन्त्र चेतन-परमाणुओं के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्णय एक जटिलतर समस्या है। स्वतन्त्र और स्वयंसम्पूर्ण होने से तो स्वेच्छाचारी होना ही स्वाभाविक है। यह असंख्य यथेच्छाचारियों का दल तो एक अव्यवस्था और अराजकता की ही सृष्टि करेगा। परन्तु हम जिस जगत के साथ परिचित हैं, उसमें तो हम एक छन्द और व्यवस्था ही पाते हैं। यावतीय वस्तुओं की स्थिति, गति और परिणति नियमान्तर्गत है। चेतन परमाणुओं के राज्य में यह किस प्रकार सम्भव होता है? स्वतन्त्र जीवन में अभ्यस्त चेतन परमाणुओं ने सहयोग के द्वारा किस प्रकार से जगत में नियमों का प्रवर्तन किया है? लाइबनिट्स ने इसी समस्या के समाधान के लिये "पूर्वस्थापित छन्द" के मतवाद की अवतारणा की है।

लाइबनिट्स के अनुसार श्रेष्ठ चेतन परमाणु ईश्वर ने अन्य सब चेतन परमाणुओं की सृष्टि की है, और स्वाधीन बनाकर ही इनकी सृष्टि की है। परन्तु स्वाधीन बनाने पर भी इसकी सृष्टि को पहिले

से ही इस प्रकार नियन्त्रित कर दिया है कि एक की स्वाधीनता दूसरे की स्वाधीनता का विरोधी नहीं हो सकती। प्रत्येक चेतन-परमाणु का जीवन अन्य सब चेतन-परमाणुओं के जीवन के साथ संगति रखकर ही परिणति प्राप्त करता है। प्रत्येक चेतन-परमाणु अपनी विशिष्टता और अपनी सम्भावना में दूसरे चेतन परमाणु से पृथक् अवश्य है, परन्तु वह होते हुए भी विश्व के समग्र रूप का वह परिपूरक है; कहीं भी अपनी स्वाधीनता के प्रयोग से उसने विश्व के छन्द को क्षुण्ण नहीं किया है। अर्थात् सब नियमों के पीछे एक ऐसा सार्वभौम भागवत् नियम है, जिसको स्वीकार कर ही चेतन-परमाणुओं के अपने नियम व्यक्त होते हैं। इसलिये उनके स्वतंत्र जीवन और स्वतन्त्र परिणति के बीच जो कुछ घटित हो रहा है, वह विश्व का ही समग्र जीवन और उसकी समग्र परिणति है। इस विश्वछन्द की तुलना एकतानवाद्य (Orchestra) के साथ की जा सकती है। एकतानवाद्य का प्रत्येक वाद्ययंत्र अपनी स्वर-विशिष्टता में दूसरे से स्वतन्त्र है और प्रत्येक की स्वर-प्रकाश भंगि भी दूसरे से भिन्न है। तथापि एकतानवाद्य से शब्द-विशृंखला की सृष्टि न होकर स्वर-संगति की ही सृष्टि होती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक यंत्र पृथक् रहकर भी एक विशेष स्वर-विन्यास का आश्रय लेकर आत्म-प्रकाश करता है। इसमें उसकी स्वतन्त्रता भी है, और एकतान का उद्देश्य भी व्यर्थ नहीं होता है। चेतन-परमाणुओं के जगत में भी ऐसा ही है।

इसी पूर्व-स्थापित छन्द के मतवाद के द्वारा लाइबनिट्स ने देह और मन की सम्बन्ध-समस्या के समाधान का भी प्रयास किया है। मन अपने नियम पर चलता है और देह अपने नियम पर। इनमें से कोई किसी पर निर्भर

नहीं, और न इनमें कोई पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया ही है। तथापि इनमें सहयोगिता है, क्योंकि जगत के अन्य पदार्थों की भांति ये भी "पूर्वस्थापित छन्द" के नियम का आश्रय लेकर ही चल रहे हैं। इसलिये अन्य सबकी तरह इनके जीवन में भी छन्द-च्युति होने का कोई भय नहीं है। एक पटु यन्त्री इस प्रकार की दो घड़ियों का निर्माण कर सकता है, जो सम्पूर्ण पृथक् होने पर भी एक ही समय का निर्देश करती हैं। इसी प्रकार सर्वज्ञ और सर्वश्रेष्ठ सृष्टिकर्त्ता ईश्वर ने शरीर और मन का इस प्रकार संगठन किया है कि स्वतन्त्र होने पर भी इनमें एक संगति वर्तमान है। यही कारण है कि हमारे जीवन में देह तथा मन की प्रतिदिन की सहयोगिता का एक सार्थक रूप है।

लाइबनिट्स की ज्ञान-मीमांसा

मनुष्य किस प्रकार ज्ञान सञ्चय करता है, मनुष्य के ज्ञान की सीमा कहां है—यह भी दर्शन का एक आलोच्य विषय है। दर्शन के इतिहास में इस ज्ञान-मीमांसा को लेकर अनेक मतवादों की सृष्टि हुई है। पाश्चात्य दर्शन के आधुनिक युग में बुद्धिवाद (Rationalism) और अनुभववाद (Empiricism) का तर्क-वितर्क है। देकार्त, स्पिनोजा और लाइबनिट्स —ये बुद्धिवादी हैं। बुद्धिवादियों के अनुसार ज्ञान, बुद्धि का ही अपना रूप है, वह मनुष्य की सहजात (Innate) है। मनुष्य के जन्म के साथ ही उसका मन ज्ञानसहित जन्म ग्रहण करता है। ज्ञान वहिर्जगत के साथ हमारे संस्पर्श पर निर्भर नहीं है। दूसरी ओर अनुभववादी इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार ज्ञान मन का सहजात धर्म नहीं; यह इन्द्रियलब्ध्य

है। वहिर्जगत के साथ मन के संस्पर्श की जो अनुभूति है, ज्ञान उसका ही फल है। लाइबनिट्स के समसामयिक अनुभववादी दार्शनिक थे इंगलैंड के लॉक (Locke)। उन्होंने ज्ञान को मन की सहजात सम्पत्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार मनुष्य के जन्मकाल में मन में ज्ञान का कोई अस्तित्व नहीं होता; अनुभूति की रेखाओं के पत्तन से ही मन में ज्ञान का सञ्चार होता है। मन जैसे शून्य आधार, बाहरी दुनिया से ज्ञान के उपादान तक पहुंच कर इस शून्य आधार को पूर्ण करते हैं। ज्ञान यदि मनुष्य की सहजात सम्पत्ति ही है तो जगत में क्यों कोई बुद्धिमान और कोई मूढ़ होगा, शिक्षित और अशिक्षित के ज्ञान में कोई पार्थक्य क्यों होगा ?

लाइबनिट्स बुद्धिवादी हैं; उन्होंने लॉक के इस मत को स्वीकार नहीं किया। इस मत को मान कर हम प्रतिभा की कोई युक्तिपूर्ण व्याख्या नहीं कर सकते। ज्ञान यदि इन्द्रियजात अनुभव का फल है तो हम सभी एक ही आवेष्ठन (Environment) में रहकर एक ही प्रकार की अभिज्ञता प्राप्त कर रहे हैं। तो फिर क्यों हम में से कोई साधारण और कोई असाधारण प्रतिभा सम्पन्न हैं ? इससे यही प्रमाणित होता है, कि ज्ञान मनुष्य के मन का सहजात है। लाइबनिट्स ने दिखलाया कि देकार्ते और लॉक दोनों के मत गलत हैं, यद्यपि दोनों में कुछ सत्य है। उनके अनुसार ज्ञान के लिये दो वस्तुओं की आवश्यकता है। यह सहजात भी है; और इसके लिये इन्द्रियजात अनुभूति की भी आवश्यकता है। बुद्धिवादी होते हुए भी उन्होंने अनुभूति के मूल्य को अस्वीकार नहीं किया। मन का जो सहजात ज्ञान है, वह ज्ञान का अंकुर मात्र है। इन्द्रियजात अनुभूति की सिंचाई से ही इस

अंकुर को विकसित किया जा सकता है। मन की अस्पष्ट और अर्द्ध स्पष्ट धारणाएं बाहरी दुनिया के संस्पर्श में ही स्पष्ट और परिस्फुट हो उठती हैं। इसलिये मन शून्य आधार नहीं है, इसमें पहिले से ही ज्ञान का अंकुर वर्त्तमान है। इन्द्रियज अनुभूति भी अवान्तर नहीं है, क्योंकि इसके द्वारा ही यह अंकुर वृहत् महीरुह में परिणत होता है।

अतएव ज्ञान निर्भर है दो वस्तुओं पर, मन की प्रकृति और इन्द्रियज अनुभूति। लाइबनिट्स के अनुसार इन दो विषयों को केन्द्रित कर दो प्रकार के सत्यों की उत्पत्ति हुई है। मन की सहजात प्रकृति से जिस सत्य की उत्पत्ति है, वह है अनिवार्य या अवश्यम्भावी सत्य (Necessary Truth); और बाहरी जगत तथा इन्द्रिय-संस्पर्श-जनित ज्ञान से जिस सत्य की उत्पत्ति है, वह है आपतिक सत्य (Contingent Truth)।

ईश्वर और दुःख-समस्या

धर्म के सम्बन्ध में लाइबनिट्स का जो मत है, उसमें उन्होंने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि सृष्टि के बीच से सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का महान उद्देश्य ही साधित हो रहा है। ईश्वर के साथ जगत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जगत के यावतीय पदार्थ जो एक पारस्परिक सम्बन्ध में आबद्ध हैं, वह ईश्वर के कारण ही सम्भव है। जगत की नियमानुवर्तिता के मूल में वही है। चेतन परमाणुओं के जगत में मनुष्य ही आत्म-सचेतन है। इसी आत्म-सचेतनता के बल पर मनुष्य भगवान का आन्तरिक संग प्राप्त कर सकता है।

ईश्वर सृष्टिकर्त्ता होने पर भी एक सर्वशक्तिमान स्वेच्छाचारी सम्राट्

की भांति नहीं। जिस भागवत बुद्धि के द्वारा सारा जगत सञ्चालित हो रहा है, वह स्वयं भी उसी भागवत विधान के अधीन है। वास्तविकता यह है कि बुद्धि को ही लाइबनिट्स ने विश्व के श्रेष्ठ तत्व के रूप में ग्रहण किया है। यह प्रज्ञाशक्ति ही ईश्वर का स्वरूप है।

ईश्वर ने जो इस जगत की सृष्टि की है, लाइबनिट्स के अनुसार यही सर्वश्रेष्ठ जगत है। हमारी इस दुनिया की अपेक्षा कोई श्रेष्ठतर जगत सम्भव नहीं। ईश्वर है, परम सत् और पूर्णतम। यदि इस जगत से श्रेष्ठतर जगत की सृष्टि करने में समर्थ होकर भी उन्होंने ऐसा नहीं किया हो तो कैसे कहा जाय कि वह सत् है? इस जगत में मनुष्य के कितने दुःख हैं, कितना उनका अकल्याण है। इनको दूर करने में भी सक्षम होकर उन्होंने ऐसा नहीं किया है, और यदि श्रेष्ठतर जगत की सृष्टि करने में वह अक्षम हैं तो फिर वह सर्वशक्तिमान पूर्णतम नहीं है। इसलिये ऐसा नहीं हो सकता; ईश्वर असत् और अक्षम किस प्रकार से हो सकते हैं। अतएव इस जगत की तुलना में श्रेष्ठतर जगत हो नहीं सकता, नहीं तो ईश्वर अवश्य ही उसकी सृष्टि करते।

परन्तु इस जगत में इतना दुःख क्यों है? मनुष्य के अनुभव में तो दुनिया में दुःख कष्ट की ही अधिकता है। इस दुःख-प्रधान जगत को किस प्रकार से कहा जाय सर्वश्रेष्ठ सृष्टि! इस दुःख के संबंध में लाइबनिट्स की व्याख्या यह है कि दुःख जगत में है, यह अवश्य ही स्वीकार्य है, परन्तु इस दुःख की सार्थकता है। दुःख है सुख से परिचय कराने के लिये। निरवच्छिन्न सुख हो नहीं सकता। अन्धकार के बगल में ही जिस प्रकार आलोक की उज्ज्वलता और सार्थकता है, उसी प्रकार सुख की महिमा की उपलब्धि के

लिये दुःख की पटभूमि की प्रयोजनीयता है। इसलिये लाइबनिट्स के अनुसार दुःख सुख का ही परिपूरक है। अकरुण आघात के छद्मवेश में ही सुख का आविर्भाव है।

लाइबनिट्स का दर्शन में कुछ आलोचनात्मक विचार किया जा सकता है।

पहिले ही कहा जा चुका है कि लाइबनिट्स ने देकार्ते वर्णित जड़-चैतन्य की द्वैतवाद समस्या के समाधान की चेष्टा की है। परंतु देह और मन के सम्बन्ध की जो व्याख्या उन्होंने दी है, उसे कोई युक्तिपूर्ण व्याख्या नहीं कहा जा सकता। समालोचकों के अनुसार उनका "पूर्व-स्थापित छन्द" उन्हीं के मन की कृत्रिम सृष्टि है। यह जगत के सुनियन्त्रण के विधान को स्वीकार करने का नामान्तर मात्र है। गुण में पृथक् होते हुए भी देह और मन की सहयोगिता किस प्रकार से होती है? लाइबनिट्स का उत्तर है कि 'वे इस प्रकार सृष्ट हैं कि सहयोगिता करना ही उनका स्वभाव है'। परन्तु इस उत्तर को समस्या का समाधान नहीं कहा जा सकता।

लाइबनिट्स के चेतन-परमाणुओं को परम पदार्थ (Ultimate Substance) कहा जा सकता है या नहीं, इस विषय में भी सन्देह है। कारण कि इस परम पदार्थ में हम पाते हैं जड़ता और क्रियाशीलता (Passivity and Activity)—ये दोनों तत्व। तब चेतन परमाणुओं का परमत्व कहां रहा—उपर्युक्त दोनों तत्व ही तो परम (Ultimate) हुए।

चेतन परमाणुओं में परिणति की सम्भावना को लाइबनिट्स ने स्वीकार किया है। परन्तु भविष्य में यह सम्भावना वास्तव होगी या चिरकाल तक

यह सम्भावना ही रह जायगी, यह हम नहीं जान सकते। यदि चेतन-परमाणु कि यह सम्भावना वास्तव में परिणत हो तो एक समय यह पूर्णतम चेतन-परमाणु हो जायेगा, अर्थात् ईश्वर हो जायेगा। दूर भविष्य में इस प्रकार एक बहु-ईश्वर के राज्य की प्रतिष्ठा होने पर, अभिव्यक्ति या विकास नाम की कोई चीज नहीं रह जायगी; अतएव चेतन-परमाणुवाद (Monadology) भी नहीं रह जायगा। दूसरी ओर यदि यह सम्भावना एक चिर-सम्भावना मात्र हो, तब तो सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को श्रेष्ठ चेतन-परमाणु कहने पर भी वह सृष्टि के बहिर्भूत ही हो गये।

समालोचकों के अनुसार लाइबनिट्स ने बहु को एक के ग्रास से बचाना चाहा था, परन्तु वह इसमें सफल न हुए। चेतन परमाणुओं को एक ओर जैसे उन्होंने स्वतन्त्र किया, दूसरी ओर उनको उन्होंने एक पूर्व स्थापित छन्द के अधीन किया। वे स्वाधीन होकर भी स्वाधीन नहीं। यहां यह अवश्य विचारणीय है कि स्वाधीनता का तात्पर्य क्या है। हमें यह मानना पड़ेगा कि स्वाधीनता का अर्थ स्वेच्छाचारिता नहीं है। संयम में ही स्वाधीनता की मर्यादा है। विश्व के छन्द के साथ युक्त होकर रहना ही स्वाधीनता है। इस छन्द को अतिक्रम करना अपनी स्वाधीनता को ही क्षुण्ण करना है। लाइबनिट्स के कहने का यही तात्पर्य था।

"दुःख सुख का परिपूरक है" लाइबनिट्स के इस मतवाद को बहुतों ने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा कि यह कथन एक विश्वास की बात है, कोई तत्व की बात नहीं। उपमा कानों के लिये सुखकर हो सकता है, परन्तु उससे मनुष्य के कष्ट का लाघव नहीं होता। वास्तव में दुःख तत्व दर्शन का एक प्रधान तत्व है। दर्शन के इतिहास की आलोचना से यही समझ पड़ता

है कि बुद्धि द्वारा दुःख तत्व की व्याख्या नहीं की जा सकती। इसीलिये दुःख विचार तो प्रचुर हुआ है, परन्तु दुःख के परिमाण में कोई कमी नहीं हुई है। लाइबनिट्स ने भी एक जगह कहा है कि हम तो अपूर्ण चेतन परमाणु हैं, इसलिये हमारा ज्ञान भी अपूर्ण है; एकमात्र पूर्णतम ईश्वर के ज्ञान में ही दुःख का स्वरूप प्रकाशित है।

चेतन परमाणु में भागवत् सत्ता है और इसीलिय वह पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहा है। इसलिये उनके जीवन में अब ईश्वर की कोई प्रयोजनीयता नहीं रही। ईश्वर सृष्टिकार्य सम्पन्न कर अवसर ग्रहण करने से कोई हानि नहीं, 'पूर्व स्थापित छन्द' से ही विश्व चलता रहेगा। परन्तु लाइबनिट्स ने मनुष्य-जीवन में धर्म की प्रयोजनीयता का अनुभव किया था। इसलिये अपने 'पूर्व स्थापित छन्द' के वावजूद उन्होंने कहा कि ज्ञान के उच्चस्तर पर मनुष्य ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। ईश्वर के साथ मनुष्य के मिलन को ही उन्होंने मनुष्य की चरम परिणति के रूप में देखा।

लाइबनिट्स की प्रतिभा असाधारण और बहुमुखी है। विज्ञान, दर्शन तथा मनुष्य-जीवन की सब समस्या ही उनके ज्ञान का विषय था। इनके समाधान में उन्होंने एक गहरी अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया। उनकी इस अन्तर्दृष्टि ने भविष्य के दार्शनिकों और वैज्ञानिकों को एक नये पथ का सन्धान दिया था। लाइबनिट्स की ज्ञान-मीमांसा जर्मन दार्शनिक कॉन्ट की ज्ञान-मीमांसा की ही सूचना है। क्रियाशीलता ही जड़ का धर्म है, वर्तमान पदार्थ-विद्या ने इस मतवाद की सत्यता को प्रमाणित किया है। लाइबनिट्स का निरवच्छिन्नता का नियम भविष्य के विकासवाद का ही पूर्वाभास है।

पठनीय

लाइबनिट्स लिखित :--The Monadology and other writings--Translated by R. Latta (with commentary).

The Monadology of Leibniz --By H. W. Carr.

The Philosophical Writing of Leibniz--By Mary Morris (Everyman).

सहज-प्रवेशिका :--Leibniz – J. T. Merz.

आलोचनात्मक :—A Critical Exposition of the Philosophy of Leibniz—B. Russell.

Leibniz—H. W. Carr.

The Dawn of Modern Thought —S. H. Mellone.

दूसरा अध्याय

अनुभववाद (Empiricism)

हमने यह देखा कि स्वतन्त्र विचार की विजयपताका लेकर पाश्चात्य दर्शन के आधुनिक युग का आरम्भ हुआ। मनुष्य की यह धारणा हुई कि उसके बुद्धि और बल से विश्व के सब रहस्यों का उद्घाटन हो जायगा। देकार्ते, स्पिनोजा, लाइबनिट्स आदि की विचारधाराओं में मनुष्य के बुद्धि-विचार के प्रति सम्पूर्ण आस्था है। परन्तु समय के साथ यह उत्साह घटने लगा। मनुष्य के मन में यह धारणा हुई कि परम तत्व को जानना ही होगा, ऐसी कोई बात नहीं है। सम्भवतः इसका जानना सम्भव भी न हो। परन्तु हमारे निकट के सत्य की उपेक्षा क्यों करें? यह निकट का सत्य मनुष्य स्वयं है। कल्पना के कोहरे में सारे विश्व की प्रदक्षिणा न कर इन्द्रिय-पथ पर अभिज्ञता के उज्ज्वल आलोक में मनुष्य के स्वरूप को पहचानने की चेष्टा करना ही हमारा कर्तव्य है। इसलिये योरोप में प्रवर्तित हुआ एक व्यक्ति-सचेतनता का युग। समाज, राष्ट्र, धर्म, दर्शन, विज्ञान और अर्थनीति—जीवन के सभी क्षेत्रों में मानवीय अधिकारों की मांग ने एक प्रधान स्थान लिया। योरोपीय संस्कृति के इस नवीन आलोक में दर्शन में भी एक नवीन धारा ने जन्म लिया। इस नवीन धारा का नाम है, अनुभववाद (Empiricism)।

जॉन लॉक (John Locke 1632–1704)

[इंग्लैंड के एक गृहस्थ परिवार में १६३२ ई० में लॉक का जन्म हुआ। थोड़ी उम्र में मातृहीन होकर लॉक अपने पिता की नियमानुवर्तिता में पले।

अध्यवसाय, आत्मनिर्भरता और स्वातंत्र्यप्रियता उनके चरित्र की विशिष्टता थी। लन्दन के वेस्टमिनिस्टर तथा ऑक्सफोर्ड के क्राइस्टचर्च कॉलेज में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। साहित्य, रसायन, पदार्थ-विद्या, चिकित्सा-विज्ञान आदि उनके अध्ययन के विषय थे। ऑक्सफोर्ड में वह अध्यापक नियुक्त हुए थे और अवसर काल में वह चिकित्सक का काम भी करते थे। एक बार उन्होंने अपनी चिकित्सा से लार्ड ऐशली को रोगमुक्त किया था और इस कारण लार्ड ऐशली को उन्होंने एक आजीवन मित्र के रूप में प्राप्त किया। उन्हीं की सहायता से वह शासन-विभाग के एक जिम्मेदार पद पर नियुक्त हुए। परन्तु ऐशली की मृत्यु के बाद उनको हालैंड भाग जाना पड़ा। इसी समय उन्होंने अपने विख्यात दार्शनिक ग्रन्थ की रचना समाप्त की। पांच वर्ष बाद सन् १६८८ ई० में इंग्लैंड के विद्रोह के समय वह स्वदेश को लौटे। इसी बीच योरोप के एक श्रेष्ठ मनीषी के रूप में उनकी ख्याति फैली। शासन-सुधार में भी लॉक की देन कम नहीं है। १७०४ ई० में उनकी मृत्यु हुई।]

लॉक ने समग्र विश्व के स्वरूप को जानने की चेष्टा नहीं की। देकार्ते, स्पिनोजा और लाइबनिट्स की भांति परमतत्व के जानने की आकांक्षा उन्हें नहीं थी। परमतत्व के स्वरूप को लेकर कितना मतभेद है। हमारे जीवन की समस्याओं का समाधान करने बैठकर हम किसी एक सिद्धान्त पर पहुंचते नहीं! इसलिये सत्य क्या है, यह जानने के पहिले इस विषय की मीमांसा का प्रयोजन पहिले है कि सत्य को हम किस प्रकार से जानते हैं। इसलिये लॉक का उद्देश्य है, मनुष्य के ज्ञान की उत्पत्ति, निश्चयता और उसकी सीमा के सम्बन्ध में अनुसन्धान और आलोचना करना।

ज्ञान की उत्पत्ति

लॉक के पहिले दार्शनिकों ने मान लिया था कि ज्ञान मानवमन की सहजात सम्पदा है। इस मत के अनुसार मन जन्म के साथ ही कुछ धारणाओं को लेकर जन्म-ग्रहण करता है, और उन्हीं के ऊपर हमारे ज्ञान की बुनियाद निर्भर है। ऊपर इस सम्बन्ध में हमने आलोचना की है और लाइबनिट्स ने इसका किस प्रकार संशोधन किया, यह भी हमने देख लिया है। यह जो कुछ हो, यह मत सत्य है, इसके प्रमाणस्वरूप यह कहा गया है कि ऐसे अनेक सार्वभौमिक या सार्विक सत्य (Universal Truth) हैं, जिनको न सिखाने पर भी मनुष्य आप से आप जानता है।

लॉक के अनुसार यह सत्य नहीं। ज्ञान मन की सहजात सम्पदा नहीं है। शिशु, मूढ़ और अशिक्षित, सार्विक सत्य के सम्बन्ध में इनका कोई ज्ञान नहीं है। मन में सहजात धारणा (Innate Idias) है, परन्तु मन उसे जानता नहीं यह किस प्रकार सम्भव है? मन में है, परन्तु मन के अज्ञात—इसका तात्पर्य यह है कि वास्तव में मन में नहीं है। हमें ऐसा बोध होता है कि मन में पहिले से ही कुछ धारणाएं हैं, परन्तु विश्लेषण करने से यह मालूम हो जायगा कि पहिले से ही वे वर्तमान नहीं हैं। अर्थात् ये धारणाएं मन की सहजात नहीं, बल्कि आहरित हैं। यहां तक कि नीति की मूल बातें और ईश्वर सम्बन्धी धारणाएं भी सहजात नहीं हैं। इसलिये लॉक ने कहा कि जन्म काल में हमारा मन एक अलिखित सफेद कागज की नाईं होता (Tabula Rasa) है। बहिर्जगत के साथ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के बीच मन को जो परिचय प्राप्त होता है, उसी के फलस्वरूप मन असंख्य धारणाओं का सञ्चय कर लेता

है। मन में सञ्चित ये मौलिक धारणाएं (Simple Ideas) ही ज्ञान के प्राथमिक उपादान हैं । बहिर्जगत के साथ मन के इस संस्पर्श या परिचय का नाम ही ज्ञान है । इसलिये मनुष्य का ज्ञान सहजात नहीं, बल्कि अनुभूति-लब्ध है । अनुभूति से ही ज्ञान की उत्पत्ति है ।

बहिर्जगत के साथ संस्पर्श के फलस्वरूप जो मौलिक धारणाएं सञ्चित हो उठती हैं, लॉक के मतानुसार उनके आगमन पथ दो हैं--(क) संवेदन (Sensation) और (ख) अन्तर्दर्शन (Reflection)। बाहरी दुनिया से इन्द्रियपथ के द्वारा हम जो जान पाते हैं, वह है संवेदन। जिसके द्वारा मनोजगत की घटनाओं का ज्ञान होता है, वह है अन्तर्दर्शन (Reflection)। संवेदन और अन्तर्दर्शन के माध्यम से ही ज्ञान के प्राथमिक उपादानों का सञ्चय होता है। हमारा मन मानो अन्धकार कमरा है; संवेदन तथा अन्तर्दर्शन के दो गवाक्ष पथों से ज्ञान का आलोक प्रवेश कर इस कमरे को आलोकित करता है । अतएव लॉक के मतानुसार मन एक निष्क्रिय शून्य आधार मात्र है । यह शून्य आधार अनुभूति-जात ज्ञान के सम्भार से पूर्ण हो उठता है ।

ज्ञान के ये प्राथमिक उपादान मौलिक हैं । किन्तु बाद में इनसे अन्य धारणाओं की भी उत्पत्ति होती है । अतएव ज्ञान के उपादानों को लॉक ने दो भागों में विभक्त किया है--पहिला मौलिक धारणा (Simple Ideas) और दूसरी यौगिक धारणा (Complex Ideas)। मन पहिले मौलिक धारणाओं का सञ्चय करता है । पहिले ही कहा जा चुका है कि संवेदन और अन्तर्दर्शन इन दो रूपों में ये संचित होते रहते हैं। इन दो रूपों में चार प्रकार से इनका उदय हो सकता है। (१) हमारे पांच इन्द्रियों में से किसी एक को

आश्रय कर मौलिक धारणा मन में प्रवेश कर सकती है। जैसे दर्शनेन्द्रिय के द्वारा वर्ण का बोध या श्रवणेन्द्रिय के द्वारा शब्द का बोध । (२) एकाधिक इन्द्रियों का आश्रय कर यह मन में प्रवेश कर सकता है । जैसे आकार गति आदि की धारणा । (३) इस प्रकार की मौलिक धारणा केवल अन्तर्दर्शन के द्वारा प्राप्त हो सकती है । जैसे सन्देह, विश्वास आदि । (४) ऐसा भी हो सकता है कि संवेदन और अन्तर्दर्शन इन दोनों के सम्मेलन से मौलिक धारणा का उदय हो । जैसे, सुख और वेदना आदि का बोध ।

इस प्रकार मौलिक धारणाओं के सञ्चित होने पर मन उनको चुन-बिन कर यौगिक धारणाओं की सृष्टि करता है । जिस प्रक्रिया से मौलिक धारणाएं यौगिक धारणाओं में रूपान्तरित होती हैं, लॉक ने उनकी निम्नलिखित अवस्थाओं का उल्लेख किया है--

प्रथम अवस्था में मन मौलिक धारणाओं को अपने अन्दर ग्रहण करता है । इसमें मन का न तो कोई निर्देश रहता है और न कोई विचार । अर्थात् इस अवस्था में मौलिक धारणाएं इन्द्रिय-ग्राह्य मात्र होती हैं । दूसरी अवस्था है मन द्वारा इन धारणाओं का धारण । क्योंकि इनकी विस्मृति होने पर, इनको लेकर बाद में फिर यौगिक धारणाओं की रचना सम्भव नहीं। तीसरी अवस्था में मन में इन धारणाओं के परस्पर पार्थक्य-बोध का उदय होता है । इसमें एक धारणा को दूसरी धारणा से भिन्न करके देखा जा सकता है । चौथी अवस्था में मौलिक धारणाओं के गुणगत विभेद के निर्धारित होने पर मन उनकी तुलना करता है । पांचवीं अवस्था में वास्तविक यौगिक--धारणा-सृष्टि का कार्य होता है । मन यौगिक धारणाओं की गुणगत पृथकता को समझ कर, तुलनात्मक विचार कर तब इनका मिश्रण करता है ।

छठीं अवस्था में इस प्रक्रिया की समाप्ति है। इस अवस्था में मन विशेष वस्तुओं की अनुभव से उन सबके बीच जो सार्वभौमिक गुण है, उसे जान लेता है। इसको कहा जाता है, वियोजन (Abstraction)। एकमात्र मनुष्य का मन ही इस वियोजन प्रक्रिया में समर्थ है।

लॉक ने यौगिक धारणाओं को (Complex Ideas) तीन भागों में विभक्त किया है—पहिला पदार्थ (Substance), दूसरा प्रकार (Modes) तथा तीसरा सम्बन्ध (Relation)। कुछ यौगिक धारणाएं अन्य धारणाओं पर निर्भर हैं। इनको कहा जाता है 'प्रकार'। जैसे 'त्रिकोण'। त्रिकोण 'देश' का एक 'प्रकार' है। इसी प्रकार 'मिनट' समय का एक 'प्रकार' है। यथाक्रम 'देश' और 'काल' को आश्रय कर ही, त्रिकोण और मिनट की धारणाएं संभव हैं। 'देश' न होने पर त्रिकोण की धारणा और 'काल' न होने पर मिनट की धारणा असम्भव है। मन के जानने के ऊपर जिन वास्तव वस्तुओं का अस्तित्व निर्भर नहीं, उन 'स्वाधीन' वस्तुओं को समझाने के लिये कुछ मौलिक धारणाएं मिलकर जिस यौगिक धारणा की सृष्टि करते हैं, उसको 'पदार्थ' (Substance) कहा जाता है। लॉक ने 'पदार्थ' शब्द का और दो अर्थों में भी प्रयोग किया है। स्वाधीन वास्तव वस्तुओं को उन्होंने 'पदार्थ' कहा है और जिसको आश्रय कर वस्तु के गुण वस्तुओं में हैं, उस आधार (Substratum) का भी लॉक ने पदार्थ नाम दिया है। यह आधार या आश्रय,—जो वस्तुओं के गुणों का धारण करता है, उस अन्तर्निहित पदार्थ को हम जान नहीं सकते। हम जिसे जानते हैं, वह गुणमात्र है। मिष्टता, तरलता आदि मधु के गुण हैं; इन गुणों के द्वारा ही हम मधु को जानते हैं। परन्तु यदि प्रश्न किया जाय कि ये गुण कहां हैं, तो इसका उत्तर हम नहीं दे सकते। जहां, या जिसको आश्रय कर ये गुण हैं,

उसी का नाम 'पदार्थ' है। यह पदार्थ कैसा है, यह हम नहीं जानते; हम केवल यह जानते हैं कि पदार्थ नाम की कोई वस्तु है, नहीं तो ये गुण हैं कहां ?

तीसरे प्रकार की यौगिक धारणा है 'सम्बन्ध' (Relation)। सम्बन्ध की धारणा में भी प्रधान है कार्य-कारण के सम्बन्ध की धारणा। विभिन्न वस्तुओं के परस्पर निकट होने से या एक से दूसरे की उत्पत्ति होने से हम यह जान पाते हैं; हमारे इन्द्रियों के गोचर इस प्रकार ज्ञान होने से हमारे अन्दर सम्बन्ध का बोध पैदा होता है।

मूल गुण और उपगुण

लॉक ने दो प्रकार के गुणों का उल्लेख किया है। कुछ गुण ऐसे हैं, जो वस्तुओं के साथ अंगांगी रूप में युक्त हैं। वस्तुओं से उनको पृथक् नहीं किया जा सकता। ये हैं, मूल गुण (Primary Qualities); जैसे घनत्व (Solidity), विस्तृति (Extension), आकृति (Shape), गति (Motion) और संख्या (Number)। ये गुण पदार्थों की निजी सम्पत्ति हैं। दूसरे प्रकार के गुण हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध। ये पदार्थ में नहीं रहते। इन्द्रिय मार्ग से हमारे ही मन में धारणाओं के रूप में इनका जन्म है। ये हैं उपगुण (Secondary Qualities)। मन के बाहर पदार्थों में जो मूलगुण हैं, वे ही हमारे मन में इन उपगुणों की सृष्टि करते हैं।

मन और बहिर्जगत

लॉक के ज्ञानतत्व में हमने देखा कि 'पदार्थ' के स्वरूप जानने का कोई उपाय नहीं है। हमने यह भी देखा कि देश, काल, कार्य-कारण का सम्बन्ध—

ये सब मन की धारणाएं मात्र हैं। इन धारणाओं को मन संवेदन (Sensation) और अन्तर्दर्शन (Reflection) के द्वारा सञ्चित करता रहता है। बहिर्जगत इनको इन्द्रियमार्ग से धारणाओं के रूप में हमारे मन में भेज देता है। अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से इस बहिर्जगत के स्वरूप को जानने का कोई उपाय हमारे पास नहीं है। हम परोक्ष रूप में अपने मन की धारणाओं के द्वारा इस जगत की जानकारी करते हैं। मन की ये धारणाएं बहिर्जगत के प्रतिनिधि के रूप में हमारे गोचर हैं। परन्तु शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धमय जगत के आधार रूप जो पदार्थ हैं, वह हमारे अगोचर ही रह जाता है, मन में धारणाओं के उदय होने के कारण ही हम स्वीकार कर लेते हैं कि बहिर्जगत का अस्तित्व है। क्योंकि लॉक के अनुसार मन निष्क्रिय है, सृष्टि का अधिकार इसको नहीं, केवल सञ्चय का अधिकार उसे है।

ज्ञान की प्रकृति और सीमा

हमारे मन की मूल धारणाओं में संयोग है; उनमें परस्पर मेल और विरोध दोनों हैं। लॉक के अनुसार धारणाओं की इस प्रकृति के अनुभव करने का नाम ही ज्ञान है। ज्ञान कहने से जिसका बोध होता है, उसके समस्त उपादान हैं, मन की ये धारणाएं। परन्तु ऐसा होने से मन के बाहर जो सब वस्तु या व्यक्ति हैं, उनके सम्बन्ध में हमारे ज्ञान का क्या रूप हो सकता है? हम कैसे समझें कि हमारा ज्ञान सत्य है? लॉक के अनुसार मन की सहज प्रत्यक्ष-लब्ध (Intuitive) धारणाओं के कुछ आदि रूप (Archetypes) हैं। मन की अन्य किसी धारणा के साथ यदि उसके आदि रूप की कोई संगति हो तो समझना होगा कि हमारा ज्ञान सत्य है। और यदि संगति न होकर

असंगति हो तो वह ज्ञान होगा मिथ्या। अर्थात् संगति जितनी अधिक होगी, ज्ञान की सत्यता उतनी निश्चित होगी।

लॉक ने ज्ञान की निश्चयता के तीन क्रमों का उल्लेख किया है; पहिला है, सहज प्रत्यक्ष ज्ञान (Intuitive knowledge)। इसमें दो धारणाओं में जो संगति या असंगति है, वह बिना किसी तृतीय धारणा की सहायता से, स्वतःसिद्धरूप में जाना जा सकता है। हमारा अपना अस्तित्व इसी प्रकार सहजप्रत्यक्ष ज्ञान-प्रसूत है। सफेद काला नहीं है और दो तथा एक मिलकर तीन होते हैं,—इत्यादि ज्ञान स्वतःसिद्ध हैं। द्वितीय प्रकार के ज्ञान में धारणाओं की संगति या असंगति की प्रत्यक्ष जानकारी नहीं होती। किसी तृतीय धारणा की सहायता से निगमनात्मक युक्ति (Deductive Reasoning) के द्वारा किसी सिद्धान्त पर पहुंच कर यह ज्ञान प्राप्त होता है। ईश्वर का अस्तित्व इस प्रकार अनुमान-प्रमाण के द्वारा सिद्ध होता है। यह है परोक्ष ज्ञान (Demonstrative knowledge)। 'इस विराट विश्व के स्रष्टा निश्चय ही सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ हैं, वही ईश्वर हैं और वह फिर हैं'—इस प्रकार का ज्ञान परोक्ष है। ज्ञान के तृतीय क्रम में संवेदनों (Sensations) के बीच से हम बाहरी दुनिया की वस्तुओं की जानकारी प्राप्त करते हैं। इसके द्वारा प्रमाणित होता है कि बहिर्जगत का अस्तित्व है और उस जगत की वस्तुओं के मूलगुण मन में इन्द्रियज उपगुणों की सृष्टि करते हैं।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि तीन प्रकार के विभिन्न ज्ञानों से हम अपने अस्तित्व, ईश्वर के अस्तित्व और जड़-जगत के अस्तित्व की जानकारी प्राप्त करते हैं। अपने अस्तित्व का ज्ञान होता है, सहज-प्रत्यक्ष के द्वारा, ईश्वर

के अस्तित्व का ज्ञान होता है परोक्ष-प्रमाण के द्वारा, और जड़-जगत के अस्तित्व का ज्ञान होता है, इन्द्रियज अनुभव के द्वारा। यही मनुष्य के ज्ञान की सीमा है।

लॉक के ज्ञानतत्व की कुछ समस्याएं

मनुष्य-ज्ञान का लॉक ने जिस प्रकार विश्लेषण किया है, वह सरल और यथार्थ प्रतीत होता है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान के तथ्यों की कसौटी पर विचार करने से इस ज्ञानतत्व में कुछ त्रुटि दिखलाई पड़ती है।

लॉक ने मान लिया है कि मनुष्य का मन धारणाओं का निष्क्रिय आधार मात्र है। बहिर्जगत से धारणाएं जब मन के अन्दर प्रवेश करती हैं तो उन पर मन की कोई क्रिया नहीं होती। परन्तु यह सत्य नहीं है। धारणाएं जड़ जगत से जलपात की तरह मन के अन्दर नहीं गिरती हैं। अपने पारिपार्श्विक से अपनी इच्छा के अनुसार मन इनको चुन लेता है। अर्थात् मन निष्क्रिय आधार मात्र नहीं, मन सक्रिय संग्रह करने वाला है। आंख खोलने से ही हम देख पायेंगे ऐसा नहीं, इसमें मन का संयोग आवश्यक है। मन यदि सजाग रहकर ग्रहण नहीं करता तो वाह्येन्द्रियों का पथ उन्मुक्त रहने पर भी बाहरी दुनिया हमारे निकट अपरिचित रह जायगी।

इसके अतिरिक्त लॉक ने मौलिक धारणा (Simple Ideas) और ज्ञान (Knowledge) के बीच एक कल्पित व्यवधान की रचना की है। नाना प्रकार की धारणाओं का सम्मिश्रण ही ज्ञान है। लॉक के अनुसार धारणाएं मन के एक किनारे, ज्ञान में परिणत होने की उपेक्षा करती रहती हैं। 'फूल सुन्दर है' इस ज्ञान के होने के पहिले ही 'फूल' और 'सुन्दर' ये दोनों

धारणाएं मन में उपेक्षा करती रहेंगी। यह सत्य नहीं। धारणा के उदय के साथ ज्ञान का उदय होता है। संवेदन (Sensation) को प्रत्यक्ष (Perception) में परिणत होने के लिये उपेक्षा नहीं करनी पड़ती। इनमें समय का कोई व्यवधान नहीं है। उदय होते ही संवेदन (Sensation) प्रत्यक्ष में रूपान्तरित होता है।

लॉक के इस ज्ञानतत्व से और भी एक समस्या उठ खड़ी होती है। लॉक के अनुसार हम प्रत्यक्ष रूप से जो जान सकते हैं, वह है मन की धारणाएं। जिससे हमारे मन के अंदर ये धारणाएं उत्पन्न होती हैं, मन के बाहर उस जड़ जगत को हम नहीं जान सकते। इसलिये हमारा सब ज्ञान इन धारणाओं पर केन्द्रित है। परन्तु मन की ये धारणाएं तो वास्तव पदार्थ नहीं है। उनसे हमारा परिचय तो मनोजगत में ही है। इसलिये, कैसे कहा जाय कि हमारा ज्ञान वास्तव जगत का ही ज्ञान है, मन की कल्पना नहीं ?

पठनीय

लॉक लिखित :--An Essay Concerning Human Understanding—Edited by A. C. Fraser.
Locke's Philosophical Works--(Bohn Library).
Selections--Edited by M. W. Calkins.

सहज प्रवेशिका :--Persistent Problems of Philosophy--M. W. Calkins.

आलोचनात्मक :--T. H. Green's Philosophical Works Vol. I.
Locke, Berkely, Hume--C.R. Morris.

जार्ज बार्कले (George Berkeley 1685-1753)

[सन् १६८५ ई० में आयरलैंड में बार्कले का जन्म हुआ। १६ वर्ष की अवस्था में स्कूल की शिक्षा समाप्त कर वह डबलिन शहर के ट्रिनिटी कालेज में प्रविष्ट हुए। इस समय ही तीक्ष्ण बुद्धि, धार्मिकता और मधुर स्वभाव के लिये वह जनप्रिय हो गये थे। अपने मित्र और अनुगतों को लेकर बार्कले ने एक सभा की स्थापना की थी, जहां देकार्ते, लॉक, न्यूटन आदि के मतवादों की विशेष रूप से चर्चा होती थी। २५ वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपनी विख्यात दर्शन की पुस्तक की रचना की। इसके बाद लंदन आकर उस समय के विख्यात साहित्यिकों से वह परिचित हुए। यहां से वह योरोप भ्रमण को निकले। इंग्लैंड से लौटकर उन्होंने एक नवीन और महान् सभ्यता की प्रतिष्ठा का निश्चय किया। इसी उद्देश्य से उन्होंने अमेरिका में एक कालेज की स्थापना का विचार किया। परन्तु अन्त तक यह कार्यरूप में परिणत नहीं हो सका। इस उपलक्ष में तीन वर्ष अमेरिका में बिताकर और अपने पुस्तकागार को येल कालेज को दान कर बार्कले लौट आये। वहाँ से लौटकर उन्होंने दक्षिण आयरलैंड के बिशप का पद ग्रहण किया। और ऊंचे पद पर आहूत होने पर भी उन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया। वह साधारण सरल ग्राम जीवन के पक्षपाती थे। अन्तिम अवस्था में वह ऑक्सफोर्ड में निवास करने लगे। यहीं एक दिन १७५३ ई० में अपराह्न काल में स्त्री-कन्या सहित चाय पान करते समय मृत्यु ने बार्कले को घेर लिया।]

लॉक के दार्शनिक मत में हमने देखा कि हमारे ज्ञान के सब उपादान बहिर्जगत से ही आते हैं। उसमें मन की कोई देन नहीं है। परंतु यह बहिर्जगत तो

जड़-जगत है । इसलिये हमारा जो ज्ञान है, वह जड़-जगत का ही ज्ञान है और इसलिये हमारा दार्शनिक तत्व भी जड़-जगत का ही तत्व है। अतएव एकमात्र दर्शन जो संभव है, वह जड़वाद (meterialism) ही है । यह अवश्य है कि लॉक ने जड़, चैतन्य और ईश्वर तीनों को स्वीकार किया है। परन्तु साधारण विचारधारा में और शिक्षित, बुद्धिमान व्यक्तियों के मत में यह जड़वाद ही स्पष्ट हो उठा । दूसरी ओर लॉक ने अपने ज्ञानतत्व में इन्द्रिय-लब्ध तथ्यों का विश्लेषण करते हुए भी, 'पदार्थ' के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त किया है, उसमें अनुभववाद को पूर्णरूप से स्वीकार नहीं किया गया है । उन्होंने इसे युक्तिसम्मत परिणति की ओर जाने में ही सहायता की है । लॉक के दर्शन में जड़वाद और अपूर्ण अनुभववाद, इन दो बुनियादों पर बार्कले का दर्शन प्रतिष्ठित है ।

बार्कले के दर्शन को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है । प्रथम भाग में उन्होंने दिखलाया है कि मन के अनुभव के बाहर वास्तव जगत नाम की कोई चीज नहीं है । दूसरे भाग में उन्होंने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि 'धारणा' तथा धारणा का आश्रयस्थल मन ये ही एकमात्र सत्य पदार्थ हैं । अन्तिम भाग में उन्होंने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि ईश्वर ही परम चैतन्य हैं, और हमारे मन की धारणाओं की उत्पत्ति और परिणति के मूल में वही हैं ।

जड़ जगत की अवास्तविकता

जगत के सम्बन्ध में हमारा जो ज्ञान है, उसका विश्लेषण करने से हम देखते हैं कि वह कुछ धारणाओं की समष्टि है । ये धारणाएं

संवेदन (Sensation), अन्तर्दर्शन (Reflection), और स्मृति (Memory) से उत्पन्न होती हैं। इन धारणाओं के साथ है और एक वस्तु, जो धारणाओं का अनुभव करती है, जो उनको जानती है। यह है हमारा मन। मन न रहने से उन धारणाओं को हम जान नहीं सकते। धारणाएं मन की ही धारणाएं हैं; मन इनको जानता है और अपने अन्दर रखता है। इसलिये मन के अस्तित्व को स्वीकार करना ही होगा। मन न रहने से मन की धारणाओं का रहना भी सम्भव नहीं।

दूसरी ओर हम जब इसका विश्लेषण करते हैं कि जड़ पदार्थ क्या है तो हम यह देखते हैं कि जिसको हम जड़ पदार्थ कहते हैं, वह हमारे अनुभव में वाह्येन्द्रियों द्वारा प्राप्त कुछ अनुभूति छोड़ और कुछ नहीं है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन गुणों के बीच से ही हम बाहरी जगत को जान पाते हैं। किसी वस्तु से इन गुणों को हटा लेने से उस वस्तु का वस्तुत्व ही हमारी अनुभव से अदृश्य हो जायगा। उन गुणों के द्वारा ही तो हम वस्तु को जानते हैं। जिसको देखा नहीं जा सकता, सुना नहीं जा सकता, स्पर्श नहीं किया जा सकता, जिसका स्वाद अथवा गन्ध नहीं है, ऐसी कोई वस्तु तो हम अपनी अनुभूति में नहीं पाते। पाना सम्भव भी नहीं। इसलिये, हम यह देखते हैं, कि गुण को छोड़कर वस्तु को जानने का कोई उपाय नहीं है। गुणों के बीच से ही जड़ पदार्थ का स्वरूप हमारे निकट प्रकाशित होता है। परन्तु उन गुणों का अनुभव करते हैं, हम मन के द्वारा। मन न रहने से उन गुणों का अस्तित्व भी हम नहीं जान सकते थे और इसलिये वस्तु को भी नहीं जान सकते थे। उदाहरणस्वरूप चीनी को ले लीजिये। यदि हम यह न जान सकें कि चीनी मीठी है या नहीं, सफेद है या नहीं; या

चूर्ण पदार्थ है या नही, तो हमारे ज्ञान में चीनी नाम की कोई वस्तु नहीं रह जाती। इन गुणों के कारण ही चीनी की चीनीत्व है, और मन है, इसीलिये उन गुणों को हम जान सकते हैं। इसलिये चीनी का चीनीत्व मन के ऊपर ही निर्भर है। बाह्येन्द्रिय के द्वारा जिस वस्तु का अस्तित्व हमारे निकट ग्राह्य है, वह मन न रहने पर न होता। अतएव किसी वस्तु का रहना न रहना मन के ऊपर निर्भर है। मन यदि जान सके, तभी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार्य है, नहीं तो नहीं (to be is to be perceived)। इसीलिये बार्कले ने कहा कि इस विश्व-संसार का समस्त वस्तु सम्पद–मन व्यतीत इनका कोई अस्तित्व नहीं है। अतएव मन-निरपेक्ष जड़-पदार्थ न है, न हो सकता है।

लॉक के वस्तुओं के गुणों का दो प्रकार विभेद किया था––मूल-गुण तथा उपगुण। उनके अनुसार ये मूल गुण मन के ऊपर निर्भर नहीं हैं; ये वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करते हैं। यह अवश्य है कि उपगुण मन ही पर निर्भर हैं। बार्कले ने दिखलाया कि मूल गुण और उपगुणों में वास्तविक पार्थक्य नहीं है। शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध जैसे ज्ञाता के ऊपर आश्रित हैं, वैसे ही विस्तृति, आकृति, गति आदि गुण भी ज्ञाता पर ही आश्रित हैं। आस्वादन न करने से मिष्ठता का अस्तित्व नहीं रहता। वस्तु के आकार के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। दूर से देखने से हमें जो छोटा मालूम पड़ता है, वही निकट आने पर बड़ा हो जाता है। सामने से देखने से रुपया गोलाकृति दिखाई पड़ता है, परन्तु बगल से देखने पर वह अण्डे का आकार जैसा जान पड़ता है। तो क्या एक ही वस्तु बड़ा भी है और छोटा भी, गोलाकार भी है और अण्डाकार भी? यह असम्भव है। वास्तव में मूलगुण भी इन्द्रियलब्ध हैं और ज्ञाता

के ऊपर निर्भर हैं। बार्कले ने दिखाया कि अन्य मूल गुण भी, इसी प्रकार ज्ञाता पर निर्भर हैं। इसलिये, मन के जानने के ऊपर ही सब गुण निर्भर हैं। मन को छोड़ इनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं। लॉक ने भूल से गुणों में विभेद की सृष्टि की थी और एक अज्ञेय पदार्थ का अनुमान किया था। इस प्रकार के अज्ञेय पदार्थ का कोई अस्तित्व नहीं है। जगत के नाम से हम नित्य जिसकी उपलब्धि करते हैं, वह सम्पूर्ण रूप से निर्भर है, हमारे अनुभव के ऊपर। 'कोई कभी जान न पाया, परन्तु ऐसी वस्तु है'—इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं होता, यह युक्तिग्राह्य नहीं। मन के द्वारा ही हम जगत को जानते और पहचानते हैं। मन न रहे तो जगत भी नहीं रहेगा।

अनेकों की यह धारणा हो सकती है कि बार्कले ने बहिर्जगत के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया था। किन्तु यह ठीक नहीं। बार्कले ने जगत के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया, परन्तु अस्वीकार यह किया है कि अनुभूति के बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व है। लॉक ने गुणों के आधार-स्वरूप जिस अज्ञेय पदार्थ का उल्लेख किया है, बार्कले ने उसी को अस्वीकार किया है। हम अपनी अनुभूति में वस्तु से जो कुछ समझते हैं, वह है कुछ गुणों का समावेश मात्र। मन न रहे तो उन गुणों की भी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। ज्ञाता है, इसीलिये जगत है। लॉक ने पदार्थ (Matter) के अस्तित्व को मान लिया है, और यह भी कहा है कि पदार्थ कोई चीज है, परन्तु क्या, यह नहीं कह सकते। बार्कले के अनुसार यह अज्ञेय पदार्थ न कर्म कर सकता है, न विचार और न अनुभव, और न तो स्वयं ही किसी अनुभूति का गोचर है। इसलिये यह एक 'कुछ नहीं' मात्र है; ऐसी वस्तु जिसका वास्तव में ही कुछ अस्तित्व नहीं है।

चैतन्य की सत्ता

हमने देखा कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को छोड़कर हमारी अनुभूति के बाहर जड़ जगत नाम की कोई चीज नहीं है। परन्तु इससे यह खयाल हो सकता है कि मन की निरन्तर परिवर्तनशील धारणाओं को छोड़ कर और कुछ हम जान नहीं सकते। बार्कले ने इसके उत्तर में कहा कि एक और विषय को हम जानते हैं। हम अपने को जानते हैं। 'मैं' और 'मेरे मन की धारणा' इन दोनों का पार्थक्य हम करते हैं। हम केवल धारणाओं का ही अनुभव नहीं करते, हम यह भी अनुभव करते हैं कि 'मेरे मन की धारणाएं' हैं। इस पार्थक्य के बोध से यह सिद्धान्त किया जा सकता है कि मन का अस्तित्व है। चैतन्य की सत्ता अवश्य है। मन सक्रिय है, इसका अस्तित्व अन्य किसी अनुभूति पर निर्भर नहीं है। अनुभव और चिन्ता के बीच से ही इसका अस्तित्व है। अतएव हमारे निकट दो वस्तु सत्य हैं;—एक मन या चैतन्य, और दूसरा, 'मन की धारणा'।

ईश्वर

बार्कले के अनुसार मन-निरपेक्ष जड़ जगत का अस्तित्व नहीं है। परन्तु यहां एक प्रश्न उठता है कि मन में जो निरन्तर धारणाएं उठती हैं, उनकी उत्पत्ति कहां से होती है। लॉक ने यह दिखलाया था कि मन धारणाओं का आधार मात्र है, धारणा की सृष्टि की क्षमता उसकी नहीं है। बार्कले ने भी इस मत को मान लिया है। बार्कले ने यह भी स्वीकार किया है कि धारणाएं मिथ्या नहीं हैं। इसलिये मन में इनका उदय किस प्रकार से होता है, इसकी कोई युक्तिसंगत व्याख्या तो करनी ही होगी। लॉक

के अनुसार बाह्य जड़ जगत ही इन धारणाओं की उत्पत्ति का कारण है। जड़ जगत के साथ मन के संस्पर्श से ही धारणाओं का उदय होता है। परन्तु बार्कले के अनुसार मन के बाहर जड़ जगत नाम की कोई चीज नहीं है। इसलिये धारणाएं जड़ जगत की अनुलिपि (Copies) नहीं हो सकतीं। मन यदि इन धारणाओं का सृष्टिकर्ता न हो तो यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि इनकी उत्पत्ति का कारण मन के बाहर ही है। यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि वह 'कारण' इच्छा और विचार कर सकता है। क्योंकि अपने में यदि धारणा नहीं है तो हमारे मन में उस धारणा को कैसे वह संचालित कर सकता है ? हमारे मन की धारणाएं असंख्य और विचित्र हैं। इसलिये हमारी सब धारणाओं का जो कारण हैं, उसकी शक्ति निश्चय ही असीम है और उसकी बुद्धि भी अनन्त है। नहीं तो असंख्य विचित्र धारणाओं को असंख्य मनों में संचालित करना सम्भव नहीं। इसके अलावा विश्व के सब मनों पर इसका प्रभुत्व है। इसलिये एक ही धारणा को एक ही समय यह असंख्य मनुष्यों के मन में संचालित कर सकता है। यह असीम शक्ति-सम्पन्न ओर अनन्त बुद्धिमय 'कारण' ईश्वर को छोड़ और कौन हो सकता है ? ईश्वर ही हमारे मन की सब धारणाओं के कारण हैं। ईश्वर सृष्ट असंख्य धारणाओं की समष्टि को हम प्रकृति (Nature) कहते हैं। धारणाएं एक के बाद एक घटित होती हैं और हम उसे कहते हैं प्रकृति की नियम परम्परा। जब हम किसी व्यक्ति को बात करते सुनते हैं तो उसका अस्तित्व हम अनुमान कर लेते हैं। इसी प्रकार प्रकृति के बीच से ईश्वर हमसे बात करते हैं। उनके अस्तित्व को हम कैसे अस्वीकार करें ? प्रकृति के नियम ईश्वर के ही नियम हैं; इस नियम के अनुसार ही वह हमारी

धारणाओं को संचालित करते हैं। सह-अवस्थान (Co-existence) और क्रमिकता (Succession) धारणाओं की परिचालना इन दोनों नियमों के अधीन है। इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध (Causal Relation) नहीं है। इसलिये प्रकृति के बीच जो ईश्वर के नियम प्रगट हो रहे हैं, उनको समझने की चेष्टा ही दर्शन का चरम उद्देश्य है।

बार्कले के दर्शन में गम्भीरता से विचार करने के लायक अनेक समस्याएं हैं। बार्कले ने कहना क्या चाहा था, इसको लेकर अनेक आलोचनाओं की सृष्टि हुई है। इस जगत की असंख्य और विचित्र वस्तु समष्टि, हमारे मन की धारणा मात्र है, साधारण बुद्धि के लिये इसे स्वीकार करना सचमुच कठिन है। धारणा (Idea) से बार्कले का क्या तात्पर्य था, इसका विश्लेषण करना आवश्यक है। इस 'धारणा' का अर्थ है, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि इन्द्रियज अनुभूति। ये पत्र, पुष्प, आकाश, गृह, पशु, पक्षी, पुस्तक, लेखनी—ये मिथ्या हैं, ऐसा नहीं। इनका अस्तित्व है, परन्तु हमारी इन्द्रियलब्ध अनुभूति में। हमारी इन्द्रियज अनुभूति मिथ्या नहीं, इसलिये, ये भी मिथ्या नहीं। परन्तु इन्द्रियज अनुभूति या संवेदन (Sensation) की उत्पत्ति तो हमारे अन्दर ही है। तो जिस जगत को हम इन्द्रियों के द्वारा जान रहे हैं, उसकी सृष्टि हमारे अन्दर ही हो रही है। अतएव यह कहना पड़ता है कि हम जो जानते हैं, वही हमारा जगत है। इस प्रकार प्रत्येक मन का एक-एक जगत है। तो फिर जगत का सार्वभौमिकत्व न रहा। परन्तु बार्कले के अनुसार ईश्वर ने हमारे अन्दर इन्द्रियज अनुभूति की सृष्टि इस प्रकार की है कि पृथक् मनों में पृथक् जगतों की सृष्टि न होकर एक ही जगत की सृष्टि होती है। इसीलिये मनुष्यों में अनुभूति तथा ज्ञान का परस्पर

आदान-प्रदान सम्भव है। जगत एक ही है और वह है धारणा का जगत। परन्तु धारणाएं किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं, वे विश्वमानव की सम्पत्ति हैं। निकट के वटवृक्ष को मैं जैसे जानता हूँ, अन्य लोग भी उसको उसी प्रकार से जानते हैं। यदि यह प्रश्न किया जाय कि सम्मुख का वट-वृक्ष क्या सचमुच है?—तो लॉक और बार्कले दोनों यही उत्तर देंगे कि वह सचमुच है। वट-वृक्ष को हम जानते हैं, उसकी कठिन शाखाओं से, उसके हरे पल्लवों से और पत्तों की मर्मर ध्वनि से। हम इसे जिस प्रकार जानते हैं, क्या उसको छोड़ वह और कुछ है, जिसे हम जान नहीं सकते? लॉक के अनुसार इसका उत्तर है कि यह "और कुछ" है, जो हमारी जानकारी के बाहर है। बार्कले के अनुसार यह हमारे ज्ञान के बाहर "और कुछ" नहीं है। इसीलिये बार्कले के दर्शन को 'आत्मगत भाववाद' (Subjective Idealism) या मानसवाद (Mentalism) कहा जाता है।

परन्तु हमारे मन में स्वभावतः एक प्रश्न उठता है। वस्तु का स्वरूप क्या है? हम जिस प्रकार उसे जानते हैं, क्या वही इसका निजी रूप है? अथवा यह कि हमारे मन और बाह्येन्द्रियों के संगठन के अनुसार हम इसको विकृत करके देखते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि हम वस्तु को पूरा पूरा देख नहीं पाते, परन्तु जितना देख पाते हैं, वह उसका वास्तविक रूप है, केवल हमारे सामने उस वस्तु का आंशिक प्रकाश मात्र है। और ऐसा भी हो सकता है कि हम वस्तु को जिस प्रकार देख रहे हैं, वह वस्तु ठीक उसी प्रकार है। इन प्रश्नों का अन्तिम उत्तर हमें आज तक नहीं मिला है। सम्भव है कि मनुष्य के लिये अन्तिम उत्तर कोई नहीं है। परन्तु इन सब समस्याओं की आलोचनाओं को लेकर ही दर्शन के इतिहास की रचना होती आई है।

बार्कले के दर्शन में बीज रूप में इन समस्याओं का अस्तित्व है, परन्तु दर्शन के इतिहास में बार्कले का स्थान इसलिये है कि उन्होंने अनुभववाद को परिणति की ओर अग्रसर किया है।

पठनीय

बार्कले लिखित :—A Treatise Concerning the Principles of Human Understanding.

Three Dialogues Between Hylas and Philonous.

Complete Works 4 Vols—Edited by A. C. Fraser.

सहज-प्रवेशिका :—Berkeley—A. C. Fraser (Blackwood)

Helps to the Study of Berkeley—T. H. Huxley.

आलोचनात्मक :—Berkeley—G. Dawes Hicks.

The Development of Berkeley's Philosophy—G. A. Johnston.

डेविड ह्यूम (David Hume 1711-1776)

[स्कॉटलैंड के एडिनबरा शहर में १७११ ई० में ह्यूम का जन्म हुआ। वह स्कॉच जाति के थे, और एडिनबरा में ही स्कूल तथा विश्वविद्यालय की शिक्षा उन्होंने प्राप्त की। परन्तु विश्वविद्यालय में वह अधिक दिनों तक न रह सके। साहित्य, दर्शन तथा इतिहास के प्रति ही उनका विशेष अनुराग था। लैटिन तथा ग्रीक भाषा भी उन्होंने सीखी थी। सामाजिकता, सहृदयता और उदारता ने उनको लोकप्रिय बनाया था। परन्तु ख्याति-प्रियता उनके चरित्र की प्रधान विशेषता थी। २३ वर्ष की अवस्था में ह्यूम ने अपने भविष्य जीवन के सम्बन्ध में निश्चय कर लिया था। अपना सारा जीवन ज्ञानचर्चा में व्यतीत करना ही उनका लक्ष्य था और यही उन्होंने किया भी। वह फ्रांस में रहने और अध्ययन करने लगे। यहीं उन्होंने दर्शन की अपनी पहिली पुस्तक (Treatise of Human Nature) की रचना की। इस समय उनकी अवस्था पूरे २५ वर्ष की भी नहीं हुई थी। इस पुस्तक के प्रकाशित होने पर किसी ने यह नहीं समझा था कि यह दर्शन की एक युगान्तकारी पुस्तक है। बाद में ह्यूम ने और भी अनेक दर्शन की पुस्तकों की रचना सरल भाषा में की थी। उनका रचित इंग्लैंड का इतिहास भी उस युग का एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। अपने समय के इंग्लैंड के शिक्षित युवकों पर ह्यूम का विशेष प्रभाव था। विख्यात अर्थशास्त्रविद् ऐडम स्मिथ तथा विख्यात ऐतिहासिक एडवर्ड गिबन पर भी उनका प्रभाव कुछ कम न था। अपने जीवन का अन्तिम काल उन्होंने एडिनबरा में बिताया। १७७६ ई० में उनकी मृत्यु हुई।]

डेविड ह्यूम के दर्शन ने लॉक और बार्कले की विचारधाराओं को पूर्णता प्रदान किया है। लॉक और बार्कले की दार्शनिक बुनियाद को डेविड ह्यूम ने भी ग्रहण किया था। उनका यह कहना था और यह प्रमाणित करने की भी उन्होंने चेष्टा की, कि, यदि संवेदन या इन्द्रियज अनुभूति (Sensuous Impressions) को छोड़कर हम और कुछ जान नहीं सकते तो हम अपनी अनुभूति के सब तथ्यों की व्याख्या नहीं कर सकते।

संवेदन और धारणा

ह्यूम के अनुसार प्रत्यक्ष (Perception) ही हमारे ज्ञान की बुनियाद है। इस प्रत्यक्ष की दो अवस्थाएं हैं। बाहर की किसी वस्तु से जब हमारे इन्द्रियों का संस्पर्श होता है, तब वह वस्तु अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में हमको प्रबल रूप से सचेतन करता है। इसी को कहते हैं संवेदन (Sensation, Impression)। इस संवेदन का आश्रय लेकर धारणा का जन्म होता है। अर्थात् धारणाओं के लिये वस्तुओं के साथ इन्द्रियों के संस्पर्श की आवश्यकता नहीं है। वस्तु हमारे सम्मुख न रहने पर भी, अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा उसके गुण का प्रत्यक्षीकरण न करने पर भी, मन के द्वारा हम उसकी धारणा कर सकते हैं। परन्तु धारणा (Idea) के लिये पहिले से इन्द्रियज प्रत्यक्ष ज्ञान या संवेदन (Sensation) निश्चय ही आवश्यक है। इसलिये धारणा संवेदन (Impression) का प्रतिविम्ब मात्र है। संवेदन से वस्तु का जो परिस्फुट ज्ञान होता है, वह धारणा से नहीं होता। संवेदन की तुलना में धारणा निस्तेज और अपरिस्फुट होती है। लॉक ने प्रत्यक्षीकरण का इस प्रकार विश्लेषण नहीं किया

तथा संवेदन और धारणा के पार्थक्य का उल्लेख भी नहीं किया है। ह्यूम ने ही इस पार्थक्य का प्रथम निर्देश किया। इस पार्थक्य के कारण धारणा का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। यह बात भी समझ में आई कि बिना संवेदन के धारणा की उत्पत्ति सम्भव नहीं। इससे हम यह भी नतीजा निकालते हैं कि हमारे ज्ञान की बुनियाद, धारणा नहीं, संवेदन है। संवेदन में ही ज्ञान के सब उपादान वर्तमान हैं।

धारणाओं का परस्पर सम्बन्ध

मनुष्य के मन में कितनी ही धारणाएं उठती रहती हैं। एक के बाद एक मन में धारणाएं आती रहती हैं और ऐसा जान पड़ता है कि इन धारणाओं में कुछ संबंध है। इन धारणाओं में यदि कोई सम्बन्ध न होता तो धारणाएं अर्थहीन हो जातीं और प्रत्येक घटना एक आकस्मिक और असम्बद्ध घटना बन जाती और घटनाओं का कोई क्रम न रह जाता। मन की धारणाओं में जो संयोग है और एक धारणा की उत्पत्ति के तत्काल बाद दूसरी और तीसरी आदि की उत्पत्ति होती रहती है, ह्यूम के अनुसार यह आकस्मिक नहीं है। निश्चय ही इनमें कोई ऐसा सम्बन्ध है, जिसके कारण एक धारणा अवश्य ही दूसरी धारणा का अनुसरण करेगी। ह्यूम ने इस भावानुसंग (Association of Ideas) के तीन नियम बताये हैं। प्रथम है सादृश्य (Similarity)। यदि दो वस्तुओं में समरूपता है तो एक की धारणा मन में आने पर दूसरे की धारणा भी मन में आ ही जाती है। दूसरा है कालगत या देशगत निकटता (Contiguity)। दो घटनाओं के एक के बाद एक घटित होने पर अथवा एक ही स्थान में

घटित होने पर, एक धारणा की उत्पत्ति के साथ दूसरे का भी स्मरण हो आता है। तीसरा नियम है, कार्य-कारण सम्बन्ध (Causality)।

ह्यूम के दर्शन में कार्य-कारण विधि का एक विशेष स्थान है। कार्य कारण सम्बन्ध से ठीक क्या बोध होता है, ह्यूम ने इसका विश्लेषण किया है। जब हम देखते हैं कि एक घटना के बाद ही दूसरी घटना घटित होती है, तो पहिली को हम कहते हैं कारण, और जो बाद में घटित होती है, उसको कहते हैं, कार्य। लकड़ी से आग होती है; लकड़ी को हम आग का कारण कहते हैं और आग को कहते हैं लकड़ी का कार्य। लकड़ी के साथ आग के इस सम्बन्ध को हम कार्य-कारण सम्बन्ध कहते हैं। लकड़ी के साथ आग का एक ऐसा सम्बन्ध है कि हमारे मन में यह धारणा होती है कि लकड़ी से आग होगी ही। ह्यूम ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि हम यदि अपने अनुभव से विचार करें तो इस कार्य-कारण सम्बन्ध को एक नई दृष्टि से देखेंगे। जो हमारे प्रत्यक्ष का विषय है, उसी के अस्तित्व को हम स्वीकार कर लेंगे। इस क्षेत्र में प्रत्यक्ष के विषय हैं आग और लकड़ी। अर्थात् हम एक बार लकड़ी को प्रत्यक्ष करते हैं और फिर आग को। लकड़ी और आग, ये दो घटनाएं एक के बाद एक इन्द्रियगोचर होती हैं। परन्तु लकड़ी और आग में जो संयोग-सूत्र है, उसको हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। इसलिये लकड़ी और आग, कार्य और कारण, के बीच कोई वास्तविक संयोग सूत्र नहीं है। लकड़ी और आग ये दो पृथक् घटनाएं हैं। इनमें जो तथाकथित संयोग है और उस संयोग में जो अवश्यम्भाविता है, उसका कोई अनुभव हमें नही है। यदि हम प्रत्यक्ष नहीं करते तो कैसे कहें कि लकड़ी और आग में एक अनिवार्य योग (Necessary Connection)

सचमुच है ? क्योंकि बार्कले ने पहिले ही कहा है कि जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं उसका अस्तित्व नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कार्य-कारण सम्बन्ध की जो हमारी धारणा है, वह मन की सहजात धारणा (Innate) है; क्योंकि मन की कोई सहजात धारणा है ही नहीं; सब धारणाएं इन्द्रिय-लब्ध हैं, अनुभूति से उत्पन्न हैं। इसलिये कार्य-कारण सम्बन्ध की जो धारणा है, वह हमारे मन की सहजात धारणा भी नहीं है और न प्रत्यक्ष का विषय है। इसलिये ह्यूम के अनुसार कार्य-कारण सम्बन्ध की कोई वास्तविकता नहीं है। कार्य कारण से भिन्न है, इसलिये कारण में उसका अस्तित्व नहीं है। जो आग है, वह लकड़ी नहीं और जो लकड़ी है वह आग नहीं, यह तो सभी स्वीकार करेंगे। इन्द्रियों के द्वारा हमारे अनुभव में जो चीज आती है वह एक संवेदन के बाद दूसरा संवेदन मात्र है। अर्थात् घटनाओं के क्रम को हम प्रत्यक्ष करते हैं, परंतु उनमें कोई अविच्छेद्य योग का सम्बन्ध नहीं है। परन्तु हमें लगता है कि कार्य-कारण के बीच कोई अविच्छेद्य योगसूत्र है। इस प्रकार की धारणा का कारण क्या है ? प्रकृति के राज्य की घटनाओं में कोई संयोग नहीं है, परन्तु हमारे मन में यह धारणा क्यों उठती है कि इनमें कोई संयोग है ? ह्यूम के अनुसार यह धारणा अभ्यास का फल छोड़कर और कुछ नहीं है। बारंबार एक घटना को दूसरी का अनुसरण करते देखकर हमारे मन में यह विश्वास जड़ पकड़ लेता है कि इनके बीच परस्पर एक अविच्छेद्य सम्बन्ध का योग है। इसलिये कार्य-कारण सम्बन्ध वास्तव नहीं है, यह मन का विश्वास मात्र है। यह मन की अभ्यासजनित एक भ्रान्ति व्यतीत और कुछ नहीं है।

बहिर्जगत मिथ्या

जिस युक्ति से ह्यूम ने प्रमाणित करने की चेष्टा की कि कार्य-कारण सम्बन्ध का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी युक्ति से उन्होंने यह दिखाने की चेष्टा की कि असंख्य और विचित्र वस्तुओं से पूर्ण यह जगत मिथ्या है, मन की भ्रान्ति मात्र है। प्रत्यक्ष न करने से कैसे जानें कि कोई वस्तु सचमुच है? घर में बैठे हैं, सामने दीवार पर तसवीर देख रहे हैं—उसका अस्तित्व हमारे निकट सत्य है। घर से निकल कर एक घण्टे बाद फिर घर में तसवीर को देखते हैं। परन्तु एक घण्टा जो इस तसवीर को नहीं देखा तथापि मन में यह सन्देह नहीं होता है कि इस समय वह तसवीर नहीं थी। सन्देह न होने का कारण क्या है? सन्देह तो होना ही स्वाभाविक है। उस समय तो चित्र किसी के प्रत्यक्ष का विषय नहीं था; और जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं, उसका अस्तित्व नहीं। इसलिये तसवीर घर में उसी स्थान पर है, यह हमारे मन का विश्वास मात्र है। वास्तव में हमने दो बार चित्र को देखा है अर्थात् हमारे मन में दो बार चित्र के दो पृथक् रूपों ने रेखापात किया है। इन दो रूपों का योग हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। इसलिये हम यह प्रमाणित नहीं कर सकते कि एक ही चित्र निरवच्छिन्न रूप में है, वह मानस-पट पर कभी प्रतिबिम्बित होता है और कभी नहीं। ह्यूम के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान से जो प्रमाणित होता है, वह है मात्र पृथक्-पृथक् संवेदनों (Sensations) का अस्तित्व। इस प्रकार हमारे अपने शरीर का निरवच्छिन्न अस्तित्व भी प्रत्यक्ष-सापेक्ष नहीं, बल्कि अनुमान-सापेक्ष है; कुछ संवेदनों की समष्टि मात्र है। यहां तक कि अपने ज्ञान में हम जिस जगत को पाते हैं वह संवेदनों की समष्टि छोड़कर और कुछ नहीं है।

संवेदनों में कोई पारस्परिक योगसूत्र नहीं है; जगत असंख्य संवेदन-कण का समावेश मात्र है।

मन मिथ्या

उल्लिखित एक ही युक्ति के द्वारा ह्यूम ने दिखाया है कि 'मन' नामक भी कोई सत्य वस्तु नहीं है। 'मैं' के रूप में हम जिसे जानते हैं और जिसका प्रचार करते हैं, वह भी तो कुछ संवेदनों की समष्टि छोड़ और कुछ नहीं है। कोई संवेदन अथवा कोई अनुभूति निरवच्छिन्न रूप में हमारे ज्ञान में जागृत नहीं रहते। इसलिये यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि जो 'मैं' पिछली रात मित्र गृह में साहित्य की आलोचना कर रहा था, वही 'मैं' आज सुबह दर्शन का इतिहास पढ़ रहा हूँ। संवेदन (Sensation) के बाद संवेदन आ रहे हैं, अनुभूति के बाद अनुभूति हो रही है। हमारा जीवन इन अनुभूतियों की समष्टि मात्र है। इनमें कोई परस्पर संयोग नहीं है। अतएव जिसको 'मैं' कह रहा हूँ या मेरा मन कह रहा है, एक विशेष वस्तु के रूप में उसका कोई एकत्व (Identity) नहीं है। 'मैं' बराबर 'मैं' ही रहा हूं—मेरी यह निरवच्छिन्न सत्ता, सत्य नहीं, काल्पनिक है। इसलिये इस कथन का कोई अर्थ ही नहीं होता कि मन जड़ पदार्थ है या चैतन्यमय, क्योंकि यह कोई पदार्थ ही नहीं है। ह्यूम के अनुसार न कोई जड़ पदार्थ है और न कोई चैतन्य पदार्थ है। जो है वह असंख्य संवेदन कणों का स्तूप मात्र है।

ईश्वर का अस्तित्व

ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में भी कोई निश्चयात्मक युक्ति नहीं

है। पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध में जिन युक्तियों की अवतारणा की है, वे अनुभववादी के निकट असिद्ध हैं। पहिले तो कार्य-कारण सम्बन्ध वास्तव नहीं है। इसलिये ईश्वर को जगत का कारण, अथवा हमारे मन में जो असीमत्व की धारणा है, उसका कारण कहना असंगत है। दूसरा, कार्य और कारण को दो पृथक् वस्तुओं के रूप में प्रत्यक्ष करने पर ही, उनके बीच किसी योगसूत्र का अनुमान हम कर पाते हैं। घड़ी देखकर घड़ी के निर्माता के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो विश्वास पैदा होता है, इसका कारण यह है कि अपने अनुभव में हमने घड़ी और उसके निर्माणकर्ता को एकत्र देखा है। घड़ी निर्माता का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान है, परन्तु जगत निर्माता ईश्वर का कोई प्रत्यक्ष ज्ञान हमें नहीं है। इसलिये जगत को प्रत्यक्ष कर ईश्वर का अनुमान सम्भव नहीं। कारण रूपी ईश्वर तो हमारे प्रत्यक्ष के बाहर हैं। अतएव ह्यूम के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में हम कोई युक्ति प्रदर्शन नहीं कर सकते। ईश्वर के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप में कुछ कहा नहीं जा सकता।

ह्यूम के दर्शन में हमने देखा कि जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, उसका कोई अस्तित्व न होने के कारण हम यह नहीं कह सकते कि कार्य-कारण सम्बन्ध, जड़-जगत, चैतन्य, ईश्वर आदि सत्य हैं या नहीं। पुनः यह कि कार्य-कारण सम्बन्ध पर विज्ञान, चैतन्य पर दार्शनिकतत्व-विचार, और ईश्वर पर धर्म निर्भर होने के कारण विज्ञान, दर्शन या धर्म इनमें से कोई भी हमें निश्चित ज्ञान नहीं दे सकता। इसलिए अनुभववाद की युक्ति से हमें अन्त तक अनिश्चयता छोड़ और कुछ नहीं मिलता। ज्ञान का विश्लेषण कर लॉक, बार्कले और ह्यूम ने हमको अंत तक एक अनिश्चयता

के राज्य में पहुँचाया है। जिस सिद्धान्त पर हम उपनीत हुए, उससे हमें सत्य नहीं मिला, मिला सन्देह। अनुभववाद परिणत हुआ सन्देहवाद (Scepticism) में।

ह्यूम स्वयं पूर्ण सन्देहवादी थे या नहीं, यह कहना कठिन है। उन्होंने गणित की निश्चयता (Mathematical Truth) को स्वीकार किया है। इसके अलावा यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते हुए कि युक्ति के द्वारा विश्लेषण का फल अनिश्चित है, उन्होंने मनुष्य के सहज विश्वास (Natural Belief) को कुछ प्रधानता दी है, व्यावहारिक जगत में इसकी प्रयोजनीयता को स्वीकार किया है। इस सहज विश्वास और मानसिक अभ्यास पर निर्भर रहकर विज्ञान की आलोचना उनके द्वारा अनुमोदित था। अलौकिक पर ह्यूम का विश्वास न था। इससे यही प्रमाणित होता है कि प्राकृतिक नियम के सम्बन्ध में उनका दार्शनिक सन्देह रहने पर भी, उसके व्यावहारिक सत्य के प्रति उनकी आस्था थी। ह्यूम के संदेहवाद का यही अर्थ है कि लॉक और बार्कले के सिद्धान्त को ग्रहण करने से यह मानना ही होगा कि जो हमारे अनुभव के बाहर है, उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई निश्चित ज्ञान सम्भव नहीं। लेकिन प्रश्न उठ सकता है कि लॉक, बार्कले के सिद्धान्त को ग्रहण करना ही होगा, ऐसी कोई बात नहीं है। ऐसी बात नहीं है, इसका प्रमाण दर्शन के इतिहास में ही मिलता है।

सन्देहवाद कभी परम तत्व के रूप में गृहीत नहीं हो सकता। क्योंकि सन्देहवाद के नियम के अनुसार ही सन्देहवाद के ऊपर ही सन्देह हो जाता

है। इसलिये, ज्ञान में हो, अज्ञान में हो किसी तत्व को स्वीकार करना ही पड़ता है। ह्यम के सन्देहवाद ने भी इसे अवश्य स्वीकार कर लिया है कि हम चाहे यह न जानें कि विज्ञान, धर्म तथा दर्शन सत्य है या नहीं, परन्तु इतना जानते हैं कि सन्देहवाद का सिद्धान्त सत्य है। अर्थात् अन्य किसी सत्य के प्रति चाहे सन्देह हो, परन्तु सन्देहवाद सन्देह-मुक्त है। मैं जो सन्देह कर रहा हूँ, इस विषय में मुझे कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा हो तो अपने सन्देह को मैं प्रकाशित नहीं कर सकता। इसीलिये कहना पड़ता है कि चरम अनिश्चयता सम्भव नहीं; इसके पीछे अनजान में कोई निश्चित बोध का आलोक अवश्य ही प्रच्छन्न है। हमारे मन के पीछे इस प्रकार एक निश्चय सत्य का आलोक ह्यूम की विचारधारा में भी प्रच्छन्न है। ह्यूम उसको देख नहीं पाये।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में ह्यूम की विचारधारा का एक विशेष स्थान है। इसकी प्रथम विशेषता है, ज्ञानतत्व में अन्तर्दर्शन पद्धति का प्रयोग। ज्ञानमीमांसा में मनोवैज्ञानिक पद्धति (Psychological Method) के प्रयोग के द्वारा ह्यूम ने इसको परिणति दी है। यह परिणति सन्देहवाद तक पहुँच कर रुक गई है; और इसके परिणामस्वरूप ज्ञानतत्व की नवीन मीमांसा सम्भव हुई है। दूसरी ओर कोंत और मिल ने इसी को बुनियाद बनाकर प्रत्यक्षवाद (Positivism) का प्रचार किया है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इस अनुभववाद की पद्धति को नीति-विज्ञान और समाज-विज्ञान ने अनेकांश में ग्रहण किया है।

पठनीय

ह्यूम-लिखित:—

A Treatise of Human Nature.

An Enquiry Concerning Human Understanding.

An Enquiry Concerning the Principles of Morals.

Selections—Edited by C. W. Hendel (Scribners.)

सहज-प्रवेशिका:—

Hume—W. Knight (Blackwood).

David Hume—H. Calderwood.

आलोचनात्मक:—

Locke, Berkeley, Hume—C. R. Morris.

Works of T. H. Green Vol. I.

Studies in the Philosophy of David Hume. C. W. Hendel.

Hume's Philosophy of Human Nature— J. Laird.

अनुभववाद की प्रतिक्रिया और परिणति

हम यह देख चुके हैं कि अनुभववाद से एक अनिश्चयता के राज्य की सृष्टि होती है। परन्तु अनिश्चयता को आश्रय कर मनुष्य की विचार-धारा अग्रसर नहीं हो सकती। सन्देहवाद की प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी थी और कुछ स्कॉच दार्शनिकों ने अनुभववाद के विरुद्ध युद्ध घोषित किया। ग्लासगो विश्वविद्यालय के दर्शन के अध्यापक थॉमस रीड (Thomas Read 1710-1796) इनमें प्रधान थे। रीड ने कहा कि पहिली भूल लॉक ने ही की है। हमारे अन्दर उत्पन्न संवेदन और हमारे बाहर अवस्थित वस्तु, इन दोनों में कोई वास्तविक व्यवधान नहीं है। यह व्यवधान लॉक की कृत्रिम रचना है। बाहर की वस्तुओं का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान है; यह सत्य नहीं कि संवेदन का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान है और बाहरी वस्तुओं का हम केवल अनुमान कर लेते हैं। सहज प्रत्यक्ष (Immediate Perception) के द्वारा हमें बाहरी वस्तुओं की जानकारी होती है। रीड के अनुसार, साधारण ज्ञान (Common Sense) से भी यही सिद्ध है। बहिर्जगत की वास्तविकता इस साधारण ज्ञान के पकड़ में ही आती है। साधारण ज्ञान के द्वारा ही हम कार्य-कारण सम्बन्ध, न्याय-अन्याय बोध आदि सार्विक सत्यों को जानते हैं। इस प्रकार रीड ने साधारण ज्ञान को दार्शनिक ज्ञान का पर्यायभुक्त किया और इस विचारधारा को आश्रित कर एक स्कॉच दार्शनिकों के दल की सृष्टि भी हुई। इस साधारण ज्ञान की भित्ति पर ही प्रत्यक्ष वास्तववाद (Direct Realism) का जन्म हुआ। परन्तु उसी समय यह विचारधारा विकसित नहीं हो सकी।

पहिले ही कहा जा चुका है कि इसी काल में योरोप की संस्कृति में एक व्यक्ति-चेतना के युग का आविर्भाव हुआ। इंग्लैण्ड में अनुभववाद का जन्म इसी का परिणाम है। फ्रांस में भी इसी समय राष्ट्र और समाज की परिस्थिति के परिणामस्वरूप जड़वाद (Materialism) और नीति के क्षेत्र में अहंवाद (Egoistic Morality) का प्रवर्तन हुआ था। कण्डिलॉक (Condillac 1715-1780) ने लॉक के मार्ग का ही अनुसरण किया, परन्तु उनके मत को पूर्णरूप से ग्रहण नहीं किया। लॉक के अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति के दो मार्ग हैं—संवेदन (Sensation) और अन्तर्दर्शन (Reflection)। कण्डिलॉक ने इसे स्वीकार नहीं किया, उन्होंने कहा कि ज्ञान की उत्पत्ति का एक ही मार्ग है और वह है संवेदन (Sensation)। जिसको अन्तर्दर्शन कहा जाता है, वह संवेदन छोड़ और कुछ नहीं है। मन की सब प्रवृत्तियां–इच्छा, आवेग और उत्साह–संवेदन के ही रूपान्तर मात्र हैं। अतएव मनुष्य और अन्य प्राणियों में कोई गुणगत पृथकता नहीं रही। कण्डिलॉक के अनुसार मनुष्य सम्पूर्ण प्राणी है और अन्य प्राणी असम्पूर्ण मनुष्य हैं। परन्तु इस प्रखर संवेदनवाद के बीच भी कण्डिलॉक को चैतन्य को जड़ कहने में द्विधा हुई, और यह भी वह स्पष्टरूप से नहीं कह सके कि ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है।

जिन्होंने इस संवेदनवाद का प्रयोग नीतिशास्त्र में भी किया, उनका नाम है हेल्वेशियस (Helvetius, 1715-1771)। हेल्वेशियस के अनुसार संवेदन को ही यदि मनुष्य जीवन के चरम सत्य के रूप में स्वीकृत किया जाय तो उसे मनुष्य जीवन के चरम उद्देश्य के रूप में भी स्वीकार कर लेना उचित है। इसलिये हमारा नैतिक आदर्श है, संवेदन-जात सुख-

बोध का पूर्ण उपभोग करना। अर्थात् मनुष्य जीवन का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिये इन्द्रियसुख का तृप्ति साधन। हेलवेशियस ने दिखलाया है कि मनुष्य के सब कर्म, चाहे वे दैहिक हों या मानसिक, आवेगजनित हों या बुद्धिजात आत्म-प्रीति को केन्द्रित कर ही होते हैं। पुनः इन्द्रियसुख के तृप्तिसाधन से ही आत्म-प्रीति की पुष्टि होती है। मनुष्य जब कभी सत्कर्म करता है, तो इसलिये नहीं कि वह कर्म अच्छा है, बल्कि इसलिये कि उससे आत्मतृप्ति होती है। इसलिये मनुष्य की सब प्रेरणाओं और कर्मों का कारण है आत्म-सुख। नीति यदि इस आत्मसुख की तृप्ति में बाधास्वरूप हो तो वह परित्यज्य है। अहंवाद ही नीतिशास्त्र का मूल आधार है।

फ़्रांस में राष्ट्रीय तथा सामाजिक परिस्थिति के परिणामस्वरूप पुराने आदर्शों के प्रति लोगों की श्रद्धा उठने लगी। स्वभावतः जब राष्ट्रीय और सामाजिक व्यवस्था में ही द्वन्द्व और द्विधा की उत्पत्ति होती है तो मनुष्य की सम्पूर्ण भावधारा इन्द्रियमुखी तथा जड़मुखी हो उठती है। ऐसी अवस्था में दार्शनिक क्षेत्र में भी जड़वाद का प्राधान्य ही स्वाभाविक है। फ़्रांस में भी यही हुआ। ला मेत्री (La Mettrie, 1709-1751) ने इस जड़वाद को ही एकमात्र दार्शनिक तत्व के रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। उनके अनुसार जो कुछ आध्यात्मिक (Spiritual) है, वह भ्रान्ति है, सत्य है केवल दैहिक सुख। ईश्वर नाम की भी कोई वस्तु नहीं है। निरीश्वरवाद की प्रतिष्ठा से पृथ्वी में धर्मयुद्धों की भी समाप्ति होगी। इसी प्रकार मन भी कोई वस्तु नहीं है, मस्तिष्क की क्रिया को ही मनुष्य मन के रूप में मान लेता है। चिकित्सक तथा अन्य वैज्ञानिकों ने भी परीक्षा के द्वारा इसी सत्य को प्रमाणित किया है। मनुष्य का मस्तिष्क अधिक उन्नत और शिक्षा

के द्वारा नियन्त्रित है, यही कारण है कि अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य अधिक बुद्धिमान है। मनुष्य में अमरत्व नाम की कोई चीज नहीं है, जो कुछ है, वह दैहिक है, इसलिये, देह के ध्वंस के साथ सब कुछ ध्वंस हो जाता है। अतएव दैहिक सुख ही एकमात्र काम्य है। ला मेत्री के मतवाद का दार्शनिक सिद्धान्त यही है कि जड़ को छोड़कर और कुछ सत्य नहीं है।

नास्तिकता और सन्देहवाद तात्कालिक युग धर्म होने पर भी, इसी काल में फ़्रांस में कुछ ऐसे व्यक्तियों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने उच्च आदर्शों के बीच ही मानव-सभ्यता का मूल्य निर्धारित करने का प्रयास किया। इनमें अन्यतम थे, वालतेयर (Voltaire, 1694-1778), वह प्रधानतः साहित्यिक थे, दर्शन चर्चा उन्होंने नहीं की। परन्तु अपने साहित्य के बीच से ही उन्होंने युग की विचारधारा का गति निर्देश किया था। ला मेत्री का जड़वाद उनके निकट एक मूढ़ता मात्र था। वालतेयर ने ईश्वर को स्वीकार किया था, परन्तु मनुष्यत्व के ऊपर धर्म के आधिपत्य को उन्होंने स्वीकार नहीं किया। कुसंस्कारों के विरुद्ध और स्वाधीनता के पक्ष में युद्ध घोषणा कर फ़्रांस के राष्ट्रीय चरित्र को उन्होंने एक विशिष्ट रूप दिया है। परन्तु मानव मुक्ति की उनकी इस चेष्टा ने दूसरी ओर फ़्रांसीसी विचारधारा को अध्यात्मवाद विरोधी बना दिया।

उस युग के दूसरे विख्यात मनीषी हैं, रूसो (Rousseau 1712-1778)। रूसो भी प्रधानतः दार्शनिक न थे; वह थे समाज-संस्कारक। बुद्धि-विचार का परिणाम हुआ, नास्तिकता और सन्देहवाद की उत्पत्ति। बुद्धि के प्रयोग से मनुष्य किसी निश्चित सिद्धान्त पर न पहुंच सका, बल्कि परस्पर विरोधी मतवादों की सृष्टि के कारण वह आदर्श भ्रष्ट हो

गया। रूसो ने इसीलिये बुद्धि को अग्राह्य कर मनुष्य में एक ऐसे तत्व का निर्देश किया जिससे विरोध के बदले ऐक्यकी सृष्टि हो सकती है। यह तत्व है, अनुभूति (Feeling)। बुद्धि के मार्ग पर मनुष्य की मुक्ति नहीं, मुक्ति है अनुभूति के मार्ग पर। रूसो के अनुसार अनुभूति ही मनुष्य-जीवन की असंख्य तथ्यों का समन्वय करती है और उसको एक अखण्ड सत्ता प्रदान करती है। बुद्धि केवल ध्वंस करती है, सृष्टि नहीं कर सकती। अनुभूति नवीन सृष्टि करती है। इसलिये केवल शृंखला भंग करने में ही मनुष्य की मुक्ति नहीं है, मुक्ति है ध्वंस के बाद नवीन सृष्टि में। यह नई सृष्टि एकमात्र अनुभूति के द्वारा ही सम्भव है। इस अनुभूति के द्वारा ही धर्म और समाज का कल्याण-साधन हो सकता है। रूसो ने यह भी दिखालाया कि मनुष्य केवल एक व्यक्तिविशेष नहीं है, इसलिये उसका कल्याण सब मनुष्यों के कल्याण पर निर्भर है। अनुभूति की दृष्टि से विचार करने पर समाज में सब मनुष्यों की मर्यादा समान है। समाज में जो मनुष्यों के बीच उच्च नीच श्रेणी भेद है, वह मनुष्य की कृत्रिम सृष्टि है। रूसो की यह वाणी चाहे दार्शनिक विचार की दृष्टि से ग्राह्य न हो, परन्तु वह केवल उस युग में ही नहीं बल्कि आजतक, मानव-सभ्यता की पूंजीभूत व्यर्थता के इतिहास में भी मनुष्य को एक आशा के आलोक से दीप्त करता आया है।

योरोपीय संस्कृति के इस नये आलोक से जर्मनी भी अनुप्राणित हुआ था। हमने देखा कि लाइबनिट्स के बाद दर्शनशास्त्र ने समग्र विश्व की व्याख्या के दायित्व को अग्राह्य कर किसी एक विशेष भाग के विश्लेषण की ही चेष्टा की है। ज्ञानतत्व, समाज, नीति और धर्म आदि——इनमें से कोई एक आलोचना का विषय था। अब पुनः जर्मनी में समग्र विश्व ही

दर्शन का विषय बन गया। क्रिश्चियन ऊल्फ (Christian Wolff 1679.1754) ने लाइबनिट्स के दर्शन का आश्रय लेकर, युक्ति के द्वारा समग्र विश्व की दार्शनिक व्याख्या की चेष्टा की। परन्तु लाइबनिट्स की अन्तर्दृष्टि उनकी न थी, इसलिये उनका दर्शन कृत्रिम बन गया है, किसी नये आलोक का सन्धान वह नहीं देता। परन्तु दर्शन के इतिहास में ऊल्फ को जो स्थान प्राप्त है, वह उनके दार्शनिक मतवाद के लिये नहीं। दर्शन के इतिहास में उनको स्थान प्राप्त है, तीन कारणों से। पहिला यह कि नये दार्शनिक मतवाद की सृष्टि न करके भी उन्होंने पुरातन दार्शनिक तथ्यों का विन्यास कर जर्मनी में दर्शन के प्रचार में सहायता दी। दूसरा, उन्होंने दार्शनिक पद्धति को पुनः आलोचना का विषय बनाया और यद्यपि उनकी नीरस ज्याभितिक पद्धति कृत्रिमता से दूषित थी, तथापि अध्ययन और अध्यापन के लिये इससे सुविधा प्राप्त हुई। तीसरा उन्होंने ही प्रथम मातृभाषा में (जर्मन भाषा में) दार्शनिक विचारधारा के प्रकाशन को प्रचलित किया। उस समय से ही जर्मन भाषा दार्शनिक विचारों का एक समृद्ध वाहन बना हुआ है।

इस युग के दूसरे प्रख्यात जर्मन दार्शनिक थे, लेसिंग (Lessing 1729-1781)। लेसिंग के माध्यम से जर्मनी में स्पिनोजा के दर्शन के प्रभाव का विस्तार हुआ। धर्म तथा ईश्वर के सम्बन्ध में उन्होंने नई व्याख्या की है। लेसिंग के अनुसार सब धर्मों में ही सत्य निहित है। लेसिंग ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से धर्म की आलोचना की है और यह दिखलाने की चेष्टा की है कि आदिकाल से ही धर्म का एक क्रमिक विकास होता आया है। ईश्वर के सम्बन्ध में भी लेसिंग की धारणा नई है। ईश्वर इस जगत

से पृथक् नहीं। मनुष्य की अनुभूति के बीच से ही ईश्वर की उपलब्धि होती है। ईश्वर प्रकृति के बीच से निरंतर आत्म प्रकाश करते रहते हैं; मनुष्य अपनी अनुभूति के बल से इस प्रकाश को पहचान सकता है। इन मतवादों में स्पिनोजा का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। लेसिंग के मतों ने अनेक समसामयिक विचारशील लेखकों के मतों को प्रभावित किया।

अनुभववाद तथा इंग्लैण्ड का नीतिविज्ञान

हमने यह देखा कि इंग्लैण्ड में लॉक ने ही अनुभववाद (Empiricism) की प्रतिष्ठा की। परन्तु नीतिशास्त्र के विषय में लॉक ने कोई विशेष आलोचना नहीं की है। उन्होंने ईश्वर को ही नीति का मूल मान लिया था। लॉक के बाद इंग्लैण्ड के दार्शनिकों ने अनुभववाद की पद्धति का प्रयोग नीति के क्षेत्र में भी किया। उन्होंने दिखलाया कि नीति केवल धर्म को आश्रित कर ही जीवित नहीं रहती। धर्म को छोड़कर भी नीति का अस्तित्व है, क्योंकि मनुष्य के अन्दर ही नीति का मूल वर्तमान है। नीतितत्व ने इस युग के समाज को विशेष रूप से प्रभावित किया था। यद्यपि विभिन्न धर्मों के प्रति मनुष्य की अनास्था हो गई थी, परन्तु अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक दायित्व और कर्त्तव्यबोध को उसने स्वीकार कर लिया था। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य ने दूसरे धर्मों को भी श्रद्धा की दृष्टि से देखना सीखा और मनुष्य को सततता को स्वीकार करने से समाज कल्याण के लिये आस्तिक और नास्तिक दोनों का सम्मिलित रूप से कार्य करना सम्भव हो सका।

अठारहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के प्रथम नीति दार्शनिक हुए शाफ्टस्-

बेरी (Shaftesbery 1671-1713) । लॉक के अनुभववाद का नीति के क्षेत्र में प्रयोग कर नीति विज्ञान का उन्होंने सूत्रपात किया। शाफ्टस्-बेरी के अनुसार मनुष्य में तीन वृत्तियां काम करती रहती हैं। एक है उसकी सहजात आत्म केन्द्रिक वृत्ति। यह सर्वदा अपने ही सुख, सुविधा की चेष्टा में मनुष्य को लगाये रखती हैं। मनुष्य में एक और वृत्ति भी है, जिसके कारण मनुष्य दूसरे के सुख-सुविधा की चेष्टा भी करता है। इनको छोड़कर एक तीसरी वृत्ति भी है, जिसका प्रकाश विद्वेष और परश्रीकातरता के रूप में होता है। यह असामाजिक वृत्ति ही मनुष्य के कल्याण के मार्ग को आवृत्त कर रखता है। शाफ्टस्बेरी के अनुसार मनुष्य के व्यक्तिगत कल्याण की इच्छा और उसके सामाजिक कल्याण की इच्छा में कोई विरोध नहीं है। विरोध की सृष्टि होती है, तीसरी असामाजिक वृत्ति के कारण। इसलिये इस आत्मघाती वृत्ति का दमन ही नीतिशास्त्र की मुख्य बात है। इसका दमन करने से मनुष्य में एक नैतिक बोध जागरुक होता है। इस नैतिक बोध के जागृत होने पर मनुष्य, समाज-कल्याण के मध्य से ही आत्म-कल्याण लाभ की चेष्टा करता है, और न्याय का आश्रय लेकर अन्याय का प्रतिरोध करता है। शाफ्टस्बेरी के अनुसार मनुष्य अनुभूति के द्वारा इस नैतिक बोध को प्राप्त करता है। इस नैतिक बोध को प्रमाणित करने के लिये उन्होंने मनुष्य के अनुभव को ही विश्लेषण करने को कहा है। इसलिये हम यह देख रहे हैं कि धर्म के ऊपर निर्भर न रहकर भी मनुष्य नीतिवान् हो सकता है और समाज का कल्याण साधन कर सकता है। मनुष्य का सद्-जीवन शिल्प के सौन्दर्य की भांति ही सुचारु समन्वय के फल से विकसित हो उठता है।

ग्लासगो विश्वविद्यालय के दर्शन के अध्यापक हैचेसन (Francis Hacheson 1694-1747) ने भी नैतिक बोध (Moral Sense) को नीति विज्ञान की भित्ति के रूप में मान लिया था। न्याय और अन्याय के सम्बन्ध में हमारी जो धारणा है, उसकी उत्पत्ति इस नैतिक बोध से होती है। पहिले तो शाफ्टस्बेरी की ही भांति, मनुष्य की अनुभूति के मध्य इस नैतिक बोध तत्व के आविष्कार की चेष्टा की, परन्तु बाद में उन्होंने दिखलाया कि यह मनुष्य का बुद्धिजात है, अनुभूति से इसकी उत्पत्ति नहीं है। बुद्धि में ही न्याय-अन्याय के विचार की क्षमता है। विचार बुद्धि ही नैतिक बोध है। इस विषय में उनके सम-सामयिक विख्यात दार्शनिक बटलर का उनके ऊपर प्रभाव परिलक्षित होता है।

बटलर (Joseph Butler 1692-1752) इंग्लैंड के एक पादरी थे। मनुष्य की बुद्धि में ही उसका विवेक (Conscience) निहित है। यही था बटलर का मतवाद। इस विवेक बुद्धि को ही उन्होंने नीति के प्रधान तत्व के रूप में ग्रहण किया। परन्तु उन्होंने अनुभववाद को ही अपनी पद्धति का आधार बनाया। मनुष्य की अनुभूति का विश्लेषण कर बटलर ने दिखलाया कि उसमें विवेक नाम की एक सहजात वस्तु है, जिसके द्वारा न्याय-अन्याय का बोध सम्भव होता है। मनुष्य में ही उचित-अनुचित का बोध है; यह कोई बाहर का नियन्त्रण नहीं, यह अन्तर का ही अनुशासन है। विवेक का अनुशासन सार्विक है और यह सब मनुष्यों में ही है। बटलर के अनुसार शाफ्टस्बेरी या हैचेसन ने जिस नैतिक बोध का उल्लेख किया है, वह मानो एक वृत्ति है, जिसके द्वारा बाह्य घटनाओं में से हम सत्-असत् न्याय-अन्याय का आविष्कार करते हैं। परन्तु विवेक (Conscience)

कोई विशेष वृत्ति नहीं है, यह मनुष्य की सत्ता है। जिस तत्व या सत्य का आश्रय लेकर मनुष्य, मनुष्य हो सका है, मनुष्यत्व का अधिकारी हो सका है, वही है विवेक। अर्थात् विवेक मनुष्य की कोई वृत्ति नहीं, यह मनुष्य स्वयं है। बटलर के अनुसार मनुष्य-प्रकृति में कई प्रवृत्तियां (tendencies) हैं। उन्होंने इनको दो भागों में विभक्त किया है। एक भाग में है मनुष्य की सहजात प्रवृत्ति--कामना, आवेग आदि। ये हमको निरन्तर वाह्य वस्तुओं की ओर आकृष्ट करते हैं। दूसरे भाग में है आत्मप्रीति। पूर्वोक्त वृत्तियां मनुष्य को विशिष्ट वस्तुओं की ओर आकृष्ट करती हैं; परन्तु आत्मप्रीति मनुष्य को सब मिलाकर एक साधारण सुख-लाभ की चेष्टा में नियोजित करती है। यह आत्मप्रीति मनुष्य को प्रेरित करती है कि वह किसी विशेष वस्तु में क्षणिक तृप्तिलाभ का प्रयास न कर एक स्थायी सुख की खोज करे। परन्तु विवेक, बुद्धि इन सबके ऊपर है। यह मनुष्य की प्रवृत्तियों और वृत्तियों को अपना निर्देश स्वीकार करने के लिये वाध्य करती है। बटलर के इस विवेकतत्व का प्रभाव इंग्लैण्ड के दार्शनिकों पर आज भी है।

पठनीय

W. Windelband—History of Philosophy.

J. G. Hibben—The philosophy of the Enlightenment

Leslie Stephen—History of English Thought in the Eighteenth Century.

तीसरा अध्याय

भाववाद (Idealism)

पाश्चात्य दर्शन के आधुनिक युग के आरम्भ से अब तक के जिस विचार-धारा से हम परिचित हुए, उसमें हमने देखा कि बुद्धि के ऊपर अगाध विश्वास को लेकर मनुष्य विश्व के रहस्योद्घाटन के लिये यत्नशील हुआ। बेकन के उत्साह और पद्धति ने समस्त यूरोप को अनुप्राणित किया था। यह सभी ने प्रायः मान लिया था कि विज्ञान और तर्कशास्त्र की सहायता से हमारे अनुभव के सब तथ्यों की व्याख्या की जा सकेगी। बुद्धि ही एकमात्र उपास्या देवी हो गई थी। बुद्धि के ऊपर यह आस्था दर्शन में भी प्रतिबिम्बित हुई, जिसमें यह दिखलाया गया कि मनुष्य में ही वह स्वतःसिद्ध सत्य है, जिसके उद्घाटन से विश्व के सम्पूर्ण स्वरूप का ज्ञान हो सकेगा। मनुष्य के इस आत्मविश्वास के फलस्वरूप ईश्वर और धर्म की प्रयोजनीयता का बोध घटने लगा। युक्ति के अस्त्राघात से पुराने आदर्श पंगु हो गये। हेलवेशियस, ला मैत्री आदि का जड़वाद इतना युक्तिसिद्ध जान पड़ने लगा कि धर्मयाजकों में भी नास्तिकता प्रबल हो उठी। धर्म के बीच ही मनुष्य का आदर्श जीवित रहता है। इसलिये बुद्धि के नये आलोक में योरोपीय संस्कृति जब धर्म-भ्रष्ट हुई, तब वह अपने आदर्श से भी च्युत हुई। परन्तु आदर्श-च्युत होकर मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। आदर्श वञ्चित मानव-मन ने यह प्रश्न किया कि बुद्धि का निर्देश ही सत्य है, ऐसा न भी तो हो सकता है।

हमने देखा कि लॉक ने ही प्रथम बुद्धि का विश्लेषण किया। हमें ज्ञान किस प्रकार से होता है, इसकी सीमा क्या है, धर्म और नीति सम्बन्धी हमारी धारणाएं सहज़ात हैं या नहीं——इत्यादि प्रश्नों का उत्थापन उन्होंने किया है, इनका उत्तर भी हमें मिला; मन का सहजात कुछ नहीं, इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है, उनके सिवा मन में और कुछ नहीं है। परन्तु क्या इससे यही प्रमाणित नहीं होता कि हमारा सब ज्ञान जड़-जगत का ही ज्ञान है? बाह्य वस्तुओं के साथ इन्द्रियों का संस्पर्श ही तो ज्ञान है। बाहर जड़ छोड़ और क्या है? इसलिये एकमात्र दर्शन है जड़वाद। हमने यह भी देखा कि बार्कले के अनुसार लॉक का दार्शनिक सिद्धान्त वास्तव में जड़वाद को प्रमाणित नहीं करता, बल्कि उससे इसका विपरीत ही प्रमाणित होता है। मन के बाहर जड़ नाम की कोई चीज नहीं है; जड़ मन का ही दूसरा पहलू है। ह्यूम ने आगे चलकर यह दिखलाया कि जैसे जड़ नाम की कोई वस्तु नहीं है, वैसे ही मन नाम की भी कोई चीज नहीं है। जड़ नहीं है, चैतन्य नहीं है, इसलिये धर्म या नीति नाम की भी कोई वस्तु नहीं है। कार्य-कारण का कोई सम्बन्ध नहीं, इसलिये विज्ञान हुआ अनिश्चित का ज्ञान। ह्यूम के अनुसार, गणित में जो अनिवार्यता है, (जैसे २×२=४) वह शब्दों की पुनरावृत्ति को छोड़कर और कुछ नहीं है। इसलिये देखा यह गया कि बुद्धि के तलवार ने जड़-दानव की हत्या न कर चैतन्य की ही समाप्ति की, और धर्म तथा विज्ञान के मूल को भी शिथिल कर दिया।

जर्मन दार्शनिक काण्ट, ह्यूम के इस सन्देहवादी सिद्धान्त से परिचित हुए। लाइबनिट्स और ऊल्फ की विचारधाराओं में वह लालित हुए थे, इसलिये ह्यूम के सिद्धान्त ने उन्हें अत्यन्त आन्दोलित किया। अपने बुद्धि-

सिद्ध दार्शनिक मत के अनुसार, धर्म, नीति, दर्शन, विज्ञान सबको स्वीकार कर, वह सन्तुष्ट थे। परन्तु बुद्धि ने अब यह दिखलाया कि इनमें कोई निश्चित सत्य नहीं है। काण्ट के मन में यह प्रश्न उठा कि, धर्म, दर्शन, विज्ञान क्या ये सब मन की भ्रान्ति मात्र हैं? परन्तु बुद्धि प्रतिपादित सिद्धान्त ही सत्य हो, ऐसा न भी तो हो सकता है। बुद्धि की शक्ति के सम्बन्ध में ही मनुष्य के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ। यही कारण है कि रूसो ने बुद्धि के निर्देश को अग्राह्य कर अनुभूति को ही (Feeling) सत्य के एकमात्र प्रदर्शक के रूप में स्वीकार करने को मनुष्य को आह्वान किया। अनुभूति के बल पर ही मनुष्य जीवन के परम सत्य का आविष्कार कर सकेगा। मनुष्य की सहजात वृत्तियों के स्वाभाविक स्फुरण से इस अनुभूति को जागृत और प्राण पूर्ण करना ही रुसो का शिक्षा तत्व है। शिक्षा तत्व के सम्बन्ध में रुसो की विख्यात पुस्तक 'एमिल' (Emile) को पाठ कर काण्ट को एक नये आलोक का सन्धान मिला। यह पुस्तक पाठ काण्ट के जीवन की एक स्मरणीय घटना है। बुद्धि तथा अनुभूति ने काण्ट के सम्मुख अपने सिद्धान्तों को उपस्थापित किया। उनके सामने यही प्रश्न प्रधान हो उठा कि सत्य के साक्षात्कार के लिये वास्तविक पथ-प्रदर्शक कौन है—बुद्धि, या अनुभूति? इस प्रश्न का समाधान करना ही काण्ट की साधना थी; और काण्ट की इस साधना ने ही जर्मनी में भाववाद (Idealism) को प्रतिष्ठित किया।

इमानुएल काण्ट (Immanuel Kant 1724-1804)

सन् १७२४ ई० में जर्मनी के प्रुशिया प्रदेश के कोनिग्स्बर्ग नगर के एक दरिद्र परिवार में काण्ट का जन्म हुआ। यहीं उन्होंने अपना पूरा जीवन

व्यतीत किया। १२ वर्ष की अवस्था में उनकी माता की मृत्यु हुई। और २१ वर्ष की अवस्था में वह पितृहीन हुए। कोनिग्स्वर्ग विश्वविद्यालय के वह एक मेधावी छात्र थे। विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त करने के बाद कुछ एक वर्ष, अपने जीविका-निर्वाह के लिये, उन्हें एक सम्भ्रान्त परिवार में शिक्षक का काम करना पड़ा। इसके बाद बत्तीस वर्ष की अवस्था में वह विश्वविद्यालय के शिक्षक (Instructor) नियुक्त हुए और ४७ वर्ष की अवस्था में अध्यापक नियुक्त हुए। दर्शन की विभिन्न शाखाओं को छोड़कर गणित, पदार्थ-विद्या, भूगोल आदि का अध्यापन भी उन्हें करना पड़ता था। प्रथम जीवन में काण्ट ने बुद्धिवाद को ही स्वीकार किया था। उनके दार्शनिक मत पर लाइबनिट्स और ऊल्फ का प्रभाव ही सर्वाधिक था। परन्तु बाद में ह्यूम के अनुभववाद ने उनके विचारों को एक नई धारा में प्रवाहित किया उन्होंने स्वयं कहा है कि उनके तन्द्राच्छन्न मन को जो बिना विचार के ग्रहण करने का अभ्यस्त था, ह्यूम के संदेहवाद ने जागृत किया। तथापि अनुभववाद को भी वह पूर्णरूप से स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। इसके अनन्तर, बुद्धिवाद और अनुभववाद, इन दोनों के मध्य से ही अपने निजी दार्शनिक मतवाद का सन्धान पाकर, उसी की परिणति की उन्होंने चेष्टा की। बुद्धिवाद और अनुभववाद के समन्वय से, १५ वर्ष व्यापी ज्ञानतत्व की एक नई परिकल्पना को समाप्त कर, काण्ट ने, ५७ वर्ष की अवस्था में, सन् १७८१ ई० में, अपने विख्यात दार्शनिक ग्रन्थ "शुद्ध-बुद्धि का विचार विश्लेषण" (Critique of Pure Reason) का प्रकाशन किया।

साधारण दृष्टि से काण्ट के जीवन को घटना बहुल नहीं कहा जा सकता। उनके चिरकुमार जीवन में सांसारिक घटनाओं का वैचित्र्य न था, परन्तु

उनके मनोजीवन में नये-नये तत्वों के आबिष्कारों की घटनाओं को तो हमें स्वीकार करना ही होगा। पारिवारिक संस्कार के सूत्र से काण्ट को मिला था धार्मिकता और संयम। प्रुशिया के तत्कालीन राष्ट्रीय व सामाजिक वातावरण ने उनको दिया था एक आत्मनिर्भरता और नियमानुवर्तिता का जीवन। उनके चरित्र की प्रथम विशेषता थी नियमनिष्ठा। उनका मन था प्रधानतः विचारशील; सब दिशाओं में विचार कर तब वह किसी सिद्धान्त पर उपनीत होते थे। यह बात सही नहीं कि उनके मन में जब जैसा विचार उत्पन्न हुआ, उसी को उन्होंने लिपिबद्ध किया, उनकी पूर्व की रचनाओं से उनकी बाद की रचनाओं से कोई संगति नहीं है, उनकी विचारधारा में कोई क्रम परिणति नहीं है। विषयवस्तु की गम्भीरता और उसे मातृभाषा में प्रकाश करने के दुःसाध्य आयास के कारण उनकी रचना सहजग्राह्य नहीं हो सकी है। यह भी सत्य नहीं कि दार्शनिक विचारों के घने आवरण में अपने को आवृत्त कर, काण्ट जनसमाज से दूर रहते थे। ज्ञान की साधना में एकान्तता का प्रयोजन है। सम्भवतः यही कारण है कि काण्ट जनता को अपने घर में नहीं बुला लाते थे। यह बात सत्य है कि वह अपने सब कार्य यथासमय और यथानियम सम्पन्न करते थे, यहां तक कि उनके अपराह्ण भ्रमण के समय उनको देखकर लोग अपनी घड़ी मिलाते थे। परन्तु यह भी सुनने में आया है कि छात्र-जीवन में काण्ट ताश, बिलियर्ड और मजलिसों के आनन्द का भी उपभोग करते थे। साथी के रूप में वह थे जनप्रिय; अध्यापक के रूप में वह थे अतुलनीय और समाज के सदस्य के रूप में वह थे कर्त्तव्य-परायण और उदार। सन् १८०४ ई० में कान्ट की मृत्यु हुई। काण्ट प्रतिदिन जिस लिंडेन बीथिका में भ्रमण करने को जाते थे, आज भी उसका नाम है, "दार्शनिक की बीथिका"।

काण्टपूर्व दर्शन की व्यर्थता और काण्ट की समस्या

पहिले ही कहा जा चुका है कि काण्टपूर्व दर्शन में बुद्धिवाद और अनुभववाद में ज्ञानतत्व की मीमांसा को लेकर विरोध था। बुद्धिवादी के अनुसार ज्ञान मन का सहजात है। परन्तु ज्ञान में पर्यवेक्षण (Observation of Facts) की प्रयोजनीयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। घर बैठे, 'क्योंकि'–'इसलिये' की सहायता से विश्व के सब तथ्यों की जानकारी हम क्यों नहीं कर सकते, बाहर निकलकर प्रकृति के साथ परिचय क्यों करना पड़ता है–इसका कोई उत्तर बुद्धिवादी नहीं दे पाता। अर्थात् ज्ञान यदि मनोजात है, तो पर्यवेक्षण की क्या आवश्यकता है, बुद्धिवाद इसकी कोई व्याख्या नहीं कर सका। दूसरी ओर अनुभववाद भी इसकी कोई व्याख्या न कर सका कि दो और दो मिलकर चार होते हैं, इस विषय में किसी के भी मन में कोई सन्देह नहीं रहता, यह सबके लिए सत्य है और अनिवार्य रूप से सत्य है। परन्तु रात्रि, दिन का अनुगामी है, इस विषय में समान अनिवार्यता का अभाव है। ऐसा असम्भव नहीं कि सौर-जगत के गति-परिवर्तन से उस नियम का व्यतिक्रम हो। परन्तु दो और दो से चार छोड़ और कुछ हो सकता है, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यदि हमारा सब ज्ञान इन्द्रियलब्ध है, तो क्या कारण है कि एक क्षेत्र में वह अवश्यम्भावी और सार्विक जान पड़ता है, और दूसरे क्षेत्र में इस सम्भावना की आशंका मन में उठती है कि उसका व्यतिक्रम हो भी सकता है ? विज्ञान में हम जिस सत्य का आविष्कार करना चाहते हैं, उसमें प्रत्यक्ष दर्शन की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही आवश्यकता है 'युक्ति की अनिवार्यता'

(Logical Necessity) की। अतएव प्रत्यक्ष के साथ युक्ति की अनिवार्यता का निश्चय ही कोई सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को खोज निकालना ज्ञानतत्व का एक अवश्य कर्त्तव्य है। काण्ट ने यही चेष्टा की।

युक्ति के बल पर ही ह्यूम सन्देहवाद के सिद्धान्त पर उपनीत हुए, परन्तु अनजान में अपनी युक्ति में ही वह ज्ञानतत्व की समस्या के समाधान का इंगित भी छोड़ गये हैं। ह्यूम ने यह प्रश्न उठाया कि वाह्य प्रकृति में तो हम केवल क्रमानुसार घटनाओंको घटित होते देखते हैं, परन्तु क्या कारण है कि हमारे मन में यह बोध होता है कि ये घटनाएं परस्पर संयुक्त हैं? मन के बाहर जो क्रमिक घटनाएं मात्र हैं; उनमें एक निश्चयात्मक योगसूत्र की धारणा मन के अन्दर किस प्रकार उत्पन्न होती है? ह्यूम ने स्वयं इस प्रश्न का यह उत्तर दिया है कि इस योगसूत्र अथवा कार्य-कारण सम्बन्ध की धारणा मन का अभ्यास छोड़ और कुछ नहीं है।

केवल कार्य-कारण सम्बन्ध की ही व्याख्या नहीं, बुद्धिवादी अथवा अनुभववादी, इनमें से कोई नीति और धर्म की व्याख्या भी न कर सका। हाब्स इत्यादि की नीति में मनुष्य अन्त तक कुछ प्राकृतिक शक्तियों तथा सामाजिक दाब का परिणाम छोड़ और कुछ नहीं है। अर्थात् मनुष्य का कर्म उसके मन की स्वतन्त्र इच्छाकृत नहीं, बल्कि वाह्य घटनाओं द्वारा नियन्त्रित है। परन्तु ऐसा होने से कृतकर्म के लिये मनुष्य का कोई दायित्व नहीं रहता, अतएव धर्म और नीति का अस्तित्व भी नहीं रहता। अनुभववाद में भी हमें घटनाओंका विवरण मिलता है, तथ्यों को हम जान लेते हैं, परन्तु उनके उचित-अनुचित के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते। हमने

किसी को बिना कहे दूसरे की वस्तु को लेते हुए देखा, परन्तु उसका यह काम उचित है या नहीं यह तो हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, और इसलिये हमारे लिये यह जानने का कोई उपाय भी नहीं है। धर्म और नीति जिसके साथ हमारा न्याय-अन्याय बोध सम्मिलित है, उसकी जांच हम अनुभव की कसौटी पर नहीं कर सकते। इसलिये, बुद्धिवादी या अनुभववादी इनमें से कोईभी धर्म या नीति की व्याख्या नहीं कर सका। मानव-जीवन के प्रधान विषयों की व्याख्या में दर्शन की इस विफलता के कारण काण्ट ने यह निश्चय किया कि ज्ञानतत्वके पुनर्विश्लेषण की नितान्त प्रयोजनीयता है। काण्ट ने यह समझ लिया कि दर्शन को तीन विशेष प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देना होगा। प्रथम, गणित में जो सार्विक और अनिवार्य सत्य है, वह किस प्रकार सम्भव है। द्वितीय, विज्ञान का सत्य सर्वजन-ग्राह्य किस प्रकार होता है। तृतीय अतिविज्ञान (Metaphysics) का सत्य ही किस प्रकार सम्भव है।

काण्ट के अनुसार पूर्ववर्ती दार्शनिकगण इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके, क्योंकि उनकी दर्शन-पद्धति ही भूल थी। दार्शनिक ने जीव, जगत, ईश्वर समस्त विश्व के स्वरूप को जानना चाहा। इसमें कुछ कहने का नहीं, क्योंकि मनुष्य के लिये यह आकांक्षा स्वाभाविक है। परन्तु आश्चर्य की बात यह है, कि, इस ज्ञान-साधना के पहिले दार्शनिक के मन में कभी यह नहीं आया कि इस विश्व के तत्व को जानने के पहिले, अपनी ही ज्ञान-शक्ति को विश्लेषण कर देखना नितान्त आवश्यक है। ज़िस यन्त्र का अवलम्बन कर हम विश्व-तत्व को जानने चले हैं, वह यंत्र कहां तक सक्रिय है और उसकी उक्ति की सीमा कहां तक विस्तृत है, यह पहिले से न जानकर आगे बढ़ना वैज्ञानिक

मनोवृत्ति का परिचायक नहीं। मनन शक्ति का आश्रय लेकर ही दर्शन तत्वों के मर्मोद्‌घाटन की चेष्टा करता है; परन्तु इस मनन शक्ति को ही, मनुष्य के जानने के इस यन्त्र को ही, भली-भांति समझना है। ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय—इन तीनों के सम्बन्धों पर दार्शनिक विचार करता है। परन्तु काण्ट ने यह दिखलाया कि अभी तक ज्ञाता और ज्ञेय इन दोनों को लेकर ही दार्शनिक व्यस्त रहा है, ज्ञान की प्रकृति के विषय में उसने कोई आलोचना नहीं की। काण्ट के अनुसार इस पूर्वालोचना के बिना जो दार्शनिक विचार किया जाता है, वह दर्शन-पद्धति नहीं है, वह विचार-निरपेक्ष स्वीकृति (Dogmatism) मात्र है। उनके अनुसार, वास्तविक दर्शन पद्धति है विचारपूर्वक विश्लेषण (Criticism)। बुद्धिवादी के अनुसार मन के भीतर ही ज्ञान के सब उपादान वर्त्तमान हैं। अनुभववादी के अनुसार, मन में कुछ नहीं है, ज्ञान के सब उपादान बाहर से ही आते हैं। काण्ट के अनुसार, यही विश्लेषण करने को है कि इनमें से कौन सही है। अथवा, यह भी सम्भव है कि ज्ञान के उपादान आंशिक रूप से इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हैं और आंशिक रूप से ये मन की सृष्टि हैं। यदि ऐसा ही हो तो ज्ञान के इन उपादानों में कितना इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है और कितना मनोजात है, सबसे पहिले इस पर विचार करना आवश्यक है। यही है काण्टीय दार्शनिक पद्धति "विचार-वाद' (Criticism)।

जब हम किसी विषय में युक्ति की अवतारणा करते हैं, तो हम कुछ वाक्यों (Judgment) का व्यवहार करते हैं। ये वाक्य ही हमारी युक्ति के उपादान हैं। ये वाक्य दो प्रकार के हैं—विश्लेषक वाक्य (Analytical Judgment) और संयोजक वाक्य (Synthetical Judgment)।

किसी विषय का वर्णन करते हुए जब हम विश्लेषक वाक्य का व्यवहार करते हैं तो उस विषय में कोई नवीन तथ्य बतलाने की बात नहीं होती। जैसे "जड़ पदार्थ की विस्तृति है"—इस वाक्य में जड़ पदार्थ के सम्बन्ध में कोई नई बात नही कही गई। क्योंकि जड़-पदार्थ होने से उसकी विस्तृति होगी ही; विस्तृति शब्द से जड़-पदार्थ के किसी नये गुण का उल्लेख नहीं किया गया। 'जड़-पदार्थ' इस शब्द के अर्थ में ही 'विस्तृति' शब्द का अर्थ भी प्रच्छन्न है; 'विस्तृति' शब्द के प्रयोग से इस प्रच्छन्न अर्थ को विश्लेषित कर प्रकाशित किया गया है। इसलिये 'जड़-पदार्थ की विस्तृति' है, यह एक विश्लेषक वाक्य है। परन्तु यदि यह कहें कि "शनिवार का दिन गरम था" तो निश्चय ही शनिवार के सम्बन्ध में एक नई बात कही गई। क्योंकि शनिवार होने के लिये गरम होना चाहिये यह बात नहीं है; गरमी शनिवार का कोई निजी गुण नहीं है। इसलिये 'गरम' शब्द के उल्लेख से यहां शनिवार के सम्बन्ध में एक नये तथ्य की विज्ञप्ति की गई। अर्थात् 'शनिवार' शब्द के अर्थ के साथ 'गरम' शब्द के अर्थ का संयोग कर एक नये ज्ञान का प्रकाश हुआ। इस कारण से 'शनिवार का दिन गरम था'—यह एक संयोजक वाक्य है। नये ज्ञान के सञ्चय में ही हमारी अभिज्ञता है। अनुभूति द्वारा प्राप्त ज्ञान को जब हम "वाक्यों' में प्रकाश करते हैं, तो साधारणतया वे 'वाक्य' संयोजक वाक्य ही होते हैं। काण्ट ने दिखलाया कि हमारे अनेक संयोजक वाक्यों में अनिवार्यता (Necessity) और सार्विकता (Universality) है। जैसे "जड़-पदार्थ में भार है"—यह वाक्य। इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त अभिज्ञता से हम यह जानते हैं कि जड़-पदार्थ में भार है। परन्तु हम यह भी जानते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता कि जड़-पदार्थ में भार न हो। अर्थात् इन्द्रिय प्राप्त

ज्ञान होने पर भी, जड़-पदार्थ का भार, सार्विक और अनिवार्य रूप से सत्य है।

अब प्रश्न यह है कि यह सार्विकता और अनिवार्यता कहां से आई? अनुभववादी कहते हैं कि अनुभव में हमें केवल मिलता है घटनाओं का क्रम, उनकी सार्विकता और अनिवार्यता को हम नहीं पाते। तो फिर हमारे संयोजक वाक्यों में यह अनिवार्यता और सार्विकता कहां से आई? बुद्धिवादी के अनुसार ज्ञान और ज्ञान की सार्विकता तथा अनिवार्यता सभी बुद्धिगत (A Priori) हैं। किन्हीं संयोजक वाक्यों की सार्विकता और अनिवार्यता का कारण यदि इन्द्रियप्राप्त नहीं है तो यही समझना होगा कि वह बुद्धिगत है। अर्थात् हमें यह स्वीकार करना होगा कि किसी-किसी संयोजक वाक्य में इन्द्रियज ज्ञान के साथ बुद्धिगत ज्ञान भी सम्मिलित है। अतएव जान यह पड़ता है कि अनुभववादी और बुद्धिवादी दोनों में सत्य का अंश है। यही कारण है कि किसी-किसी वाक्य में हम संयोजना के साथ सार्विकता और अनिवार्यता को भी पाते हैं। इनको 'सार्विक संयोजक वाक्य' (A Priori Synthetical Judgment) कहा जा सकता है। काण्ट ने यह भी दिखलाया कि विज्ञान और अतिविज्ञान (Metaphysics) के मूलतत्व इस प्रकार के सार्विक संयोजक वाक्य हैं। इसलिये यदि दार्शनिक को यह दिखलाना पड़े कि विज्ञान और अतिविज्ञान किस प्रकार संभव है तो उसे यही दिखलाना पड़ेगा कि सार्विक संयोजक वाक्य किस प्रकार संभव है। इसलिये काण्ट के निकट दर्शन की प्रधान समस्या हुई कि किस प्रकार सार्विक संयोजक वाक्य संभव है, इसका विचार विश्लेषण। काण्ट के अनुसार इस समस्या का समाधान तब होगा, जब हम ज्ञान के अन्दर इस बुद्धिगत अंश का वैज्ञानिक रूप से विश्ले-

षण कर दिखा सकें। यह अंश अनुभव द्वारा प्राप्त नहीं, इसीलिये इसको बुद्धिगत कहा गया है। अनुभव करने के पहिले ही यह मन में वर्त्तमान है, अनुभव इसका कारण नहीं है। इसलिये अनुभूति के उपादान से इसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। यह विश्लेषण-पद्धति भी अनुभूति के ऊपर निर्भर नहीं होगी। मन के इन्द्रियलब्ध अभिज्ञता के सञ्चय के द्वारा बुद्धि के स्वरूप को जाना न जा सकेगा; इस सञ्चय को बाहर रखकर ही जानना होगा। परन्तु यह अन्तदर्शन (Introspection) नहीं है। क्योंकि अन्त-र्दर्शन अनुभव का ही अन्तर्भुक्त है। अनुभव को, अर्थात् इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान को बाहर रखकर बुद्धि की प्रकृति का विश्लेषण करना, यही काण्टीय पद्धति की विशेषता है। यही कारण है कि काण्ट ने इस पद्धति का नाम दिया है अनुभव-निरपेक्ष (Transcendental) विश्लेषण।

काण्टीय दर्शन-पद्धति में बुद्धि की अनुभव-निरपेक्ष विश्लेषण किया गया है। यह दिखलाया गया है कि तीन विभिन्न दिशाओं में तीन प्रकार से बुद्धि की क्रिया प्रकाशित होती है। ये तीन दिशाएं हैं—पहिला ज्ञान, दूसरा नैतिक बोध और तीसरा सौन्दर्य बोध। तीन विभिन्न प्रकाशों में बुद्धि चाहता है सत्य, कल्याण और सुन्दर को। काण्ट ने अपने तीन विख्यात ग्रन्थों में इन तीन विषयों की पर्यालोचना की है। प्रथम ग्रन्थ है—'शुद्ध-बुद्धि का विचार-विश्लेषण' (Critique of Pure Reason), द्वितीय—"नैतिक बुद्धि का विचार-विश्लेषण" (Critique of Practical Reason); ततीय—"निर्णय-बुद्धि का विचार-विश्लेषण" (Critique of Judgment)।

शुद्ध बुद्धि का विचार विश्लेषण

(Critique of Pure Reason)

"शुद्ध-बुद्धि का विचार-विश्लेषण" नामक ग्रन्थ में काण्ट ने आलोचना की है कि गणित, विज्ञान तथा अतिविज्ञान (Metaphysics) के सिद्धान्त किस प्रकार सम्भव होते हैं। यह पहिले ही दिखलाया जा चुका है कि अनुभव के ऊपर निर्भर रहकर इनका यथार्थ विश्लेषण सम्भव नहीं। इसलिये इनका अनुभव-निरपेक्ष विश्लेषण करना पड़ेगा।

इस पुस्तक के तीन अंशों में काण्ट ने आलोचना कर यह दिखलाया है कि गणित, विज्ञान तथा अतिविज्ञान के सिद्धान्त सत्य हैं। उनके आलोचना का प्रथम विषय है संवेदन रीति का विश्लेषण। संवेदन प्रणाली में मन की अपनी देन है, यह इसमें दिखलाया गया है। साथ ही यह भी दिखलाया गया है कि मन की इस देन के कारण ही गणित के सिद्धान्त सम्भव हो सके हैं। उनकी आलोचना का दूसरा विषय है बुद्धि का विश्लेषण और बुद्धि की जो दो प्रकार की क्रियाएं हैं, उनका स्वरूप निर्धारण। बुद्धि की एक क्रिया से इन्द्रिय के द्वारा प्राप्त तथ्यों का समन्वय साधन होता है। इसी समन्वय का परिणाम है 'वाक्य' (Judgment)। काण्ट ने दिखलाया है कि इस समन्वय साधन के फलस्वरूप ही विज्ञान का सत्य सम्भव हो सका है। बुद्धि की द्वितीय क्रिया से, ये 'वाक्य' पुनः समन्वित होकर 'सार्विक धारणा' की सृष्टि करते हैं। प्रथम क्रिया को कहा जा सकता है "चिन्तन" और दूसरी क्रिया को "मनन"।

संवेदन रीति का विश्लेषण
(Transcendental Aesthetic)

वाह्य वस्तुओं के साथ हमारा जो परिचय है, वह इन्द्रियों के द्वारा। हमने पहिले ही देखा है कि इस परिचय का उपादान है, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। इस पांच प्रकार की इन्द्रियानुभूति का आश्रय अवलम्बन कर ही हमारा वस्तु ज्ञान है। परंतु कोई एक संवेदन (Sensation) अथवा कुछ संवेदनों का समूह भी वस्तु नहीं है। केवल 'मिष्ट' कहने से किसी वस्तु का ज्ञान हमें नहीं होता अथवा, 'सफेद मिष्ट', 'सुगन्ध' आदि कहने से भी किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। संवेदनों के समन्वित होने पर ही किसी विशेष वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस समन्वय के पहिले ये किसी वस्तु के रूप में हमारे ज्ञान में नहीं आते; तब तक वे केवल संवेदन मात्र हैं। ये मेज, फूल और पेड़ जिनको हम प्रत्यक्ष करते हैं--ये सब संवेदनों के समन्वय के द्वारा ही विशेष आकार में हमारे निकट प्रकाशित होते हैं। किन्तु प्रश्न उठता है कि संवेदनों का यह जो समन्वय है, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इनके मिलने से जो वस्तु का उद्भव है, यह किस प्रकार से संभव होता है? क्या संवेदन आप से आप समन्वित होकर किसी वस्तुविशेष में परिणत होते हैं, या अन्य कोई पृथक् शक्ति इनका समन्वय करा देती है? लॉक और ह्यूम के अनुसार संवेदन समूह अपने ही गुणों से वस्तुओं के रूप में परिणत होते हैं।

परन्तु काण्ट का यह मत नहीं। संवेदन में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जिसके द्वारा वे वस्तु के आकार में परिणत हो सकें। वे अर्थहीन असम्बद्धों के दल हैं; दूसरी किसी शक्ति के द्वारा विशेषरूप से समन्वित होने पर ही, वे वस्तुरूप में हमारे ज्ञान में प्रकाशित होते हैं। काण्ट के अनुसार

यह शक्ति मन की ही है। मन ही संवेदनों को समन्वित कर, अर्थपूर्ण कर वस्तु का आकार दान करता है। यदि ऐसा न होता तो केवल ताकने से ही हम देख पाते। मनोनिवेश का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु वास्तव में जब तक हम मनःसंयोग नहीं करते, तब तक संवेदन इन्द्रिय मार्ग से व्यर्थ पुकार कर चले जाते हैं। हम उनको जान भी नहीं पाते। इसको हम सरल भाषा में कहते हैं कि हम आंख से नहीं देखते, देखते हैं मन के द्वारा। हमारे इन्द्रियों के सम्मुख तो जगत की असंख्य वस्तुएं हैं, परन्तु ये सबके सब हमारे ज्ञानगोचर नहीं होतीं। हमारा अनुभव केवल उन वस्तुओं का होता है, जिसके प्रति हमारा मन आकृष्ट होता है। इसलिये मन कोई आधार मात्र नहीं है; केवल सञ्चय करना इसका काम नहीं। मन आहरण करता है, यह सत्य है, परन्तु वह पिपीलिका-धर्मी नहीं है। मन आहरण करके, समन्वय भी करता है; वह वास्तव में मधुमक्षिकाधर्मी है। इन्द्रिय मार्ग से वाह्य जगत के जो तथ्य हमारे निकट आते हैं, मन उनको चुनकर, सजाकर और मिलाकर ज्ञान का भाण्डार पूर्ण करता है।

काण्ट ने दिखलाया कि हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान के दो मुख्य अंश हैं। प्रथम है इन्द्रिय मार्ग से आगत वाह्य जगत के तथ्य; द्वितीय है मन के द्वारा उस तथ्य का ग्रहण। मन के द्वारा इस ग्रहण कार्य को विशदरूप से समझना होगा। इस ग्रहण-प्रक्रिया में ही वस्तु को वस्तु रूप में मूर्त होने का संकेत है। मन की निजी दो सांचाएं हैं; वाह्य जगत से मन जिनको ग्रहण करता है, इन्हीं सांचाओं के बीच से उनको मन में प्रवेश करना पड़ता है। मन द्वारा ग्रहण करते समय बाहर के आकारहीन, अर्थहीन तथ्य, इन सांचाओं में ढलकर आकार लाभ कर, विशिष्ट वस्तुओं के रूप में मूर्त हो उठते हैं। मन की ये

दो सांचाएं हैं—देश और काल (Space and Time)। देश, काल को छोड़कर किसी वस्तु की विशिष्टता कायम नहीं रखी जा सकती। क्योंकि देश और काल के सांचाओं में आकार पाकर ही तो कोई वस्तु, वस्तु के रूप में हमारे ज्ञान में प्रकाशित होती है। जगत की प्रत्येक वस्तु का 'कहां' और 'कब' है; कोई वस्तु देश, काल के बाहर नहीं रह सकती। रूई को वस्त्र का आकार प्राप्त करने के लिये जैसे सूत को ताना-बाना के अन्दर से जाना ही होगा, वैसे ही इन्द्रियलब्ध वाह्य तथ्यों के विशिष्ट वस्तु के रूप में हमारे ज्ञान में प्रकाशित होने के लिये मनोगत देश-काल के ताना-बाना के बीच से ही आना होगा। देश-काल के सांचे में आकार प्राप्त करने के पहिले, इन्द्रिय द्वार पर आगत बाहरी तथ्य ज्ञान के प्राथमिक उपकरण हैं। इस उपकरण के बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि केवल सांचे से मूर्ति नहीं बनाई जा सकती। सांचा तो केवल आकार दे सकता है, परन्तु जिस वस्तुपिण्ड को आकार देना है, वह वस्तु ही यदि न हो, तो आकार सार्थक नहीं हो सकता। इसलिये, मन अपना सांचा लेकर तैयार रहा, परन्तु सांचे में ढालने के लिये वस्तु नहीं आई, ऐसी अवस्था में किसी विशिष्ट पदार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं। दूसरी ओर, यदि बाहर के आकारहीन, अर्थहीन तथ्य, देश-काल के सांचे में ढलकर, किसी विशिष्ट वस्तु का आकार प्राप्त न हो, तो उनको हम जान नहीं सकते। क्योंकि देश-काल के बीच होकर आने से ही हमारे ज्ञान में उनका प्रकाश होता है। इस प्रकार काण्ट ने दिखाया कि प्रत्यक्ष में मन और मन के बाहर का जगत दोनों की देन है। इन दोनों देनों के फलस्वरूप ही जगत अपने विविध वस्तु सम्भार के सहित हमारे ज्ञान में इस जगत के रूप में प्रकाशित होता है।

परन्तु देश काल किसी मनुष्य विशेष के मन के धर्म नहीं हैं। ये सार्वभौमिक हैं। मानव-मन का ही धर्म है कि देश-काल के बीच से ही वह जगत को जानता है। इसीलिये, मनुष्य के निकट जगत देश-काल का ही जगत है। यही कारण है कि हम सब का जगत एक ही है। एक ही प्रकार के मनोधर्म द्वारा प्रकाशित, एक ही जगत के अधिवासी होने के कारण, प्रत्यक्षजात ज्ञान के विषय को लेकर परस्पर आदान-प्रदान सम्भव हो सका है। सम्मुख का पेड़ जैसे हमारे निकट निश्चय सत्य प्रतीत होता है, ठीक वैसा ही दूसरे के लिये है।

मन की संवेदन-ग्राहिता का विश्लेषण करते हुए काण्ट ने देश और काल की प्रकृति के सम्बन्ध में आलोचना की है। अनुभववादियों ने देश और काल को जो अनुभव द्वारा प्राप्त मान लिया था, काण्ट के अनुसार वह ठीक नहीं। अनुभववादी के अनुसार एक वस्तु के बगल में दूसरे को देखकर ही, 'देश' के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान की उत्पत्ति होती है, और एक वस्तु के बाद दूसरी वस्तु के आविर्भाव से 'काल' के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान की उत्पत्ति होती है। परन्तु यह धारणा सत्य नहीं। काण्ट के अनुसार इसका विपरीत ही सत्य है। अर्थात् देश और काल दोनों मनोधर्म रहने के कारण ही हम एक वस्तु के बगल दूसरी वस्तु को और एक वस्तु के बाद दूसरी वस्तु के आविर्भाव को प्रत्यक्ष कर सकते हैं। अनुभव के द्वारा देश-काल का ज्ञान हमें नहीं होता, बल्कि देश-काल के द्वारा ही अनुभव सम्भव है। अर्थात् देश-काल का अस्तित्व अनुभव के पहिले ही है। मनुष्य के मानसिक संगठन में देश और काल ऐसा मिला हुआ है, कि मन से इनको पृथक् नहीं किया जा सकता। ये मन के प्रकृतिगत हैं और यही कारण है कि ये हमारे लिये अपरिहार्य ही नहीं, बल्कि

अनिवार्य हैं। देश और काल के सांचे में ही दुनिया, 'हमारी दुनिया' बनी हुई है।

काण्ट के अनुसार देश और काल सार्विक प्रत्यय (Universal Concept) नहीं। क्योंकि विशेष वस्तु के प्रत्यक्ष फलस्वरूप ही हमारे मन में सार्विक प्रत्यय की सृष्टि होती है। कई वृक्षों को देखकर वृक्षत्व के सम्बन्ध में हमारी एक धारणा की उत्पत्ति होती है। परंतु देश और काल इस प्रकार की सार्विक धारणा नहीं हो सकती। क्योंकि देशविशेष या कालविशेष के रूप में स्वतन्त्र खण्ड खण्ड देश या काल नहीं हैं; है एक अखण्ड देश और एक अखण्ड काल। सार्विक धारणाएं बुद्धिजात हैं; देश और काल सार्विक धारणाएं नहीं, इसलिये बुद्धिजात नहीं हो सकते। काण्ट के अनुसार मन में है संवेदन-ग्राहिता (Sensibility) और है बुद्धि (Understanding)। देश और काल मन के इस संवेदनग्राहिता-धर्म के अन्तर्भुक्त हैं। दृश्यमान जगत अवश्यम्भावी रूप में देश-कालमय जगत है।

देश और काल की प्रकृति का निर्णय कर काण्ट ने अब यह दिखलाने की चेष्टा की कि गणित का सत्य किस प्रकार सम्भव होता है। काण्ट के अनुसार मानवमन के संगठन में ही देश-काल का सांचा होने के कारण गणित का ज्ञान सम्भव हो सका है। सभी जानते हैं कि ज्यामिति निर्भर है देश के ऊपर, अंकगणित निर्भर है काल के ऊपर और वलविद्या (Mechanics) निर्भर है, देश-काल के ऊपर। पहिले ही कहा जा चुका है कि देश और काल सार्विक प्रत्यय नहीं। इसलिये गणित की भित्ति सार्विक प्रत्यय नहीं है। गणित में अनिवार्यता (Necessity) और सार्विकता (Universality) दोनों हैं और इसके अलावा

है नये तथ्य का ज्ञान । अर्थात् गणित में हम पाते हैं अनुभव-निरपेक्ष संयोजना (A Priori Synthesis) । हमने यह भी देखा कि मन के संगठन में जो देश-काल है, वह भी अनुभव-निरपेक्ष और सार्विक है। इससे नतीजा यह निकाला जा सकता है कि देश-काल ही अनुभव-निरपेक्ष संयोजना की सृष्टि कर सकता है, और इसीलिये गणित सम्भव हो सका है । अर्थात् गणित में जो अनि वार्यता, सार्विकता और नवीन तथ्य का ज्ञान है, वह देश-काल पर निर्भर है ।

इसलिये हम यह देखते हैं कि काण्ट के अनुसार देश और काल मन-निरपेक्ष वाह्य जगत के पदार्थ नहीं । ये पदार्थ के गुण या सम्बन्ध भी नहीं हैं । ये मन के बीच ही हैं। वास्तव में देश को आश्रित कर बाह्य जगत की घटनाएं और काल को आश्रित कर अन्तर्जगत की घटनाएं प्रत्यक्ष गोचर होती हैं । परन्तु सब ज्ञान, चाहे वह बाह्य जगत का हो, चाहे अन्तर्जगत का हो, चैतन्य की ही अवस्था विशेष (State of Consciousness) है। एक दृष्टि से हमारे इन्द्रियलब्ध ज्ञान का कुल काल के ऊपर निर्भर है। देश-काल यदि मन का धर्म हो और हमारी दुनिया देश-काल की दुनिया हो, तो यहां एक प्रश्न उठता है। देश-काल हमारे मन की प्रकृति के ही अंग हैं, इसीलिये यह देश-काल की दुनिया हमारी ही दुनिया है । परन्तु हमारे मन के बीच से प्रकाशित होने के पहिले भी तो दुनिया है; उसका स्वरूप क्या है? देश-काल के सांचे में ढलने के पहिले की दुनिया कैसी है, यह कैसे जाने? इस देश-काल निरपेक्ष जगत के स्वरूप को जानने का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि जानने की चेष्टा करने से ही वह देश-काल के जगत के रूप में दिखलाई पड़ेगा । इसलिये काण्ट के अनुसार, देश-काल के बीच से जाना और देश-काल के बाहर जिस

जगत को हम नहीं जानते, इन दोनों में चिरकाल से एक व्यवधान है। देश-काल-निरपेक्ष जो पदार्थ है, वह शुद्ध पदार्थ (Pure Thing), पदार्थ का स्वरूप (Thing-in-itself)। इस शुद्ध पदार्थ को जानने का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि जानने की क्रिया में ही देश-काल का छाप लगकर वह "अशुद्ध" हो जाता है। जिस जगत को हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं, वह हमारे मन की ही सृष्टि है।

बुद्धि का अनुभव-निरपेक्ष विश्लेषण
(Transcendental Logic)

जगत के विविध पदार्थ के सम्बन्ध में हमारा जो ज्ञान है, काण्ट के अनुसार वह निर्भर है हमारे मन की संवेदनग्राहिता और बुद्धि के ऊपर। संवेदनग्राहिता (Sensibility) के द्वारा देश-काल के सांचा में संवेदन के अस्तित्व के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान की उत्पत्ति होती है। बुद्धि (Understanding) के द्वारा हम संवेदनों (Sensation) को समन्वित कर उनको अर्थपूर्ण वस्तु के रूप में पहचान सकते हैं। इसलिये हम देखते हैं कि ज्ञान के लिये संवेदनग्राहिता और बुद्धि दोनों नितान्त आवश्यक हैं। संवेदन न हो तो बुद्धि अर्थपूर्ण वस्तु का रूप किसे देगी ? संवेदन है ज्ञान का प्राथमिक उपकरण। दूसरी ओर केवल संवेदन का उपकरण ही ज्ञान के लिये यथेष्ट नहीं है। क्योंकि यह तो अर्थहीन, रूपहीन तथ्य मात्र है। बुद्धि की मध्यस्थता में अर्थ और संगति प्राप्त कर, तब विशिष्ट वस्तु के रूप में संवेदन हमारे ज्ञान में प्रकाशित हो उठते हैं। वस्त्र के लिये जैसे सूत की प्रयोजनीयता है, वैसे ही

बुनकारी की भी। कुछ सूत इकट्ठा करने से ही वस्त्र नहीं बन जाता, और यदि सूत न हो तो बुनकारी किस चीजको लेकर होगी? हमारे ज्ञान के क्षेत्र में भी ऐसा ही है। मन में संवेदनग्राहिता और बुद्धि दोनों की क्रियाएं होती हैं। संवेदनग्राहिता मन के सहज प्रत्यक्ष की क्षमता और बुद्धि है मन की विचार-विश्लेषण की क्षमता।

काण्ट ने इसके पहिले ही मन की संवेदनग्राहिता के सम्बन्ध में आलोचना की है; अब उन्होंने बुद्धि की क्रिया के संबंध में आलोचना आरंभ की। इस अंश का नाम है बुद्धि का अनुभव-निरपेक्ष विश्लेषण (Transcendental Logic)।

काण्ट के अनुसार बुद्धि के अन्तर्गत दो क्रियाएं हैं। पहिला है मन के द्वारा गृहीत संवेदनों को समन्वित कर वाक्य का उत्पादन, और दूसरा है वाक्यों (Judgment) को पुनः समन्वित कर सार्विक भाव (Universal Ideas) का उत्पादन। बुद्धि की इन दोनों क्रियाओं को यथाक्रम कहा जा सकता है "चिन्तन" और "मनन"। अतएव बुद्धि के पूर्ण विश्लेषण के लिये, बुद्धि की इन दोनों क्रियाओं, --"चिन्तन" और "मनन"--का विश्लेषण करना होगा।

चिन्तन का विश्लेषण

(Transcendental Analytic)

संवेदनों का समन्वय साधन कर विशिष्ट वस्तु के उत्पादन का नाम है "चिन्तन"। 'चिन्तन' की समस्या यह है कि किस प्रकार संवेदन के उपकरण, बुद्धि द्वारा संयोजित होकर, अर्थपूर्ण रूप में हमारे ज्ञान में प्रकाशित होते हैं।

मन की संवेदनग्राहिता में जैसे देश-काल का सांचा है, वैसे ही बुद्धि में भी कई एक सांचाएं हैं और इन्हीं सांचाओं के द्वारा संवेदनगण समन्वित और अर्थपूर्ण हो पाते हैं। यूनानी दार्शनिक आरिस्टॉटल के समय से ही बुद्धि के इन सांचाओं का नाम दिया गया है 'सार्वभौमिक धारणा' (Categories)। काण्ट ने बुद्धि का विश्लेषण कर यह दिखलाने की चेष्टा की कि इसमें सार्व-भौमिक धारणाएं कितनी हैं। मन की संवेदनग्राहिता में ऐसी कोई समन्वयी शक्ति (Synthetic Principle) नहीं, जिसके द्वारा संवेदन वस्तु का रूप ग्रहण कर सके। केवल बुद्धि की ही यह समन्वयी शक्ति है।

बुद्धि के विश्लेषण से यह देखा जाता है कि उसका काम है वाक्य की सृष्टि; क्योंकि बोध के बीच से ही वाक्य का जन्म होता है। इसलिये बुद्धि में समन्वय-शक्ति का संधान करने के लिये वाक्य का ही विश्लेषण कर देखना होगा। वाक्य (Judgment) का विश्लेषण कर हम देखते हैं कि हमारे सभी वाक्य कुछ विशिष्ट रूपों (Type) या प्रकृति को आश्रित किये हुए हैं। यह विशिष्ट रूप या प्रकृति निर्भर है कुछ आदि-धारणाओं के ऊपर। इन आदि या बुनियादी धारणाओं को ही "सार्वभौमिक धारणा" (Categories) कहा जाता है। काण्ट के अनुसार, इस प्रकार की सार्वभौमिक धारणाओं को आश्रित कर बारह प्रकार के वाक्य सम्भव हो सके हैं। जैसे--

(१) "सब मनुष्य नश्वर हैं"--इस वाक्य में सम्पूर्णता का बोध है।

(२) "कुछ लोग साधु हैं"--इस वाक्य में बहुत्व का प्रकाश है।

(३) "शंकर एक दार्शनिक हैं"--इस प्रकार के वाक्य में एकत्व का प्रकाश है।

(४) "मनुष्य दुर्बल है"--यह वाक्य स्वीकारवाचक है ।

(५) "आत्मा जड़ पदार्थ नहीं"--यह निषेधवाचक वाक्य है ।

(६) "आत्मा अविनश्वर है"--यह वाक्य सीमावाचक है ।

(७) "सूर्य प्रखर है"--यह वाक्य द्रव्यगुण सम्बन्ध वाचक है ।

(८) "ज्वर बढ़ने से ताप बढ़ता है"--यह कार्य-कारण सम्बन्ध वाचक वाक्य है ।

(९) "या तो विद्रोह करो, या तो सहन करो"--पारस्परिक सम्बन्ध वाचक ।

(१०) "यह पुस्तक सम्भवतः रोचक है"--सम्भव-असम्भव वाचक वाक्य ।

(११) "भारत दरिद्र है"--यह अस्ति-नास्तिवाचक वाक्य है ।

(१२) "प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य है"--यह अनिवार्यता तथा आपतिकता वाचक वाक्य है ।

उल्लिखित द्वादश वाक्य जिन द्वादश सार्वभौमिक धारणाओं को प्रकाशित करते हैं, विचार कर देखा जाय तो उनको चार मुख्य सार्वभौमिक धारणाओं के अन्तर्गत किया जा सकता है। "सम्पूर्णता, 'बहुत्व', एकत्व', ये परिमाणवाचक हैं। "वास्तविकता", "निषेध", "सीमा"--ये गुणवाचक हैं; द्रव्यगुण, कार्य-कारण और पारस्परिक सम्बन्ध--ये सम्बन्धवाचक हैं; और "सम्भाव्य--असम्भाव्य" "अस्ति-नास्ति" तथा "अनिवार्यता-आपतिकता" ये प्रकारवाचक हैं । इसलिये काण्ट के मतानुसार बुद्धि की चार सार्वभौमिक धारणाएं हैं--परिमाण, गुण, सम्बन्ध और प्रकार । इनमें भी सर्वोपरि सार्वभौमिक धारणा है, सम्बन्ध की धारणा (Relation) ।

परिमाण गुण या प्रकार, ये अन्त तक एक सम्बन्ध को ही प्रकाशित करते हैं। वस्तुतः वाक्य मात्र ही किसी सम्बन्ध का प्रकाशक है। किसी सम्बन्ध के प्रकाश का नाम ही वाक्य है।

बुद्धिगत जिन चार सार्वभौमिक धारणाओं का उल्लेख किया गया, काण्ट ने अब यह दिखलाने की कोशिश की, कि इनको आश्रित कर ही जगत के सम्बंध में हमारा ज्ञान सम्भव होता है। बुद्धिगत इन सार्वभौमिक धारणा चतुष्टय के न होने पर हमारा ज्ञान सार्थक नहीं हो सकता था। ज्ञान के प्राथमिक उपादान, देश और काल द्वारा सीमित संवेदन के रूप में प्रत्यक्षगोचर होने पर, पुनः इन सार्वभौमिक धारणा चतुष्टय के मध्य से, विशिष्ट वस्तुओं के रूप में हमारे निकट प्रकाशित होते हैं।

परन्तु हमारे ज्ञान में जिस जगत को हम पाते हैं, वह तो असंख्य विभिन्न वस्तुओं का समावेश मात्र नहीं है। पारस्परिक सम्बन्ध के बीच सब वस्तुओं ने मिलकर इस विश्व को बनाया है। वस्तु का जो परिचय है, वह जगत के इस वृहत् परिवार के एक अंश विशेष का ही परिचय है। वस्तु का जो अर्थ है, वह इसलिये कि जगत के अनेक वस्तुओं में से ही वह भी एक है। अर्थात् हमारी यह परिचित दुनिया, बहु और विचित्र वस्तुओं के बीच से भी, किसी मूलभूत एकता के नियम में सुविन्यस्त होकर एक अखण्ड रूप में प्रकाशित है। किन्तु अब प्रश्न यह है कि इस ऐक्य का नियम कहां से आया? बुद्धि के अन्तर्गत जो चार सार्वभौमिक धारणाएं हैं, वे तो संवेदनों का समन्वय कर विशेष वस्तुओं की सृष्टि करते हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। वे तो सांचे मात्र हैं, वस्तुओं को रूपदान करना ही उनका काम है। वस्तुओं के पारस्परिक आदान-प्रदान के सम्बन्ध के बीच से उनको एक अखण्ड जगत के रूप में

प्रकाशित करने की शक्ति उनकी रही है। फिर भी हमारा जगत बहु के बीच एक के रूप में ही प्रकाशित है। इसलिये काण्ट के मतानुसार हमारे अन्दर बुद्धि की चार सार्वभौमिक धारणाओं के अतिरिक्तएक और तत्व भी है, जिसके द्वारा विभिन्न और विचित्र वस्तुमय यह जगत एक सुविन्यस्त अखंड के रूप में हमारे ज्ञान के सम्मुख मूर्त हो उठता है। ज्ञान का धर्म असंलग्न विच्छिन्न रूप में देखना नहीं है, बल्कि एक अविच्छिन्न सम्पूर्ण के रूप में देखना है। ज्ञान की यह पूर्णता की दृष्टि से किस प्रकार संभव है? काण्ट के अनुसार यह सम्भव है एक मूल तत्व के कारण। यह मूलतत्व उन चारों सार्वभौमिक धारणाओं की सहायता से खण्ड के बीच अखण्ड का, अपूर्ण के बीच पूर्ण का सन्धान देता है। इस मूलतत्व को आश्रित कर ही हमारा ज्ञान सफल होता है। इसको आश्रित कर ही हमारा सब अनुभव, हमारा प्रत्यक्ष सम्भव होता है। काण्ट ने इसको कहा है "पराप्रत्यक्ष का ऐक्य" (Transcendental Unity of Apperception)। पराप्रत्यक्ष (perception) ही प्रत्यक्ष (apperception) को सार्थक बनाता है। यह पराप्रत्यक्ष तत्व ही ज्ञाता को यह ज्ञान कराता है कि वह ज्ञाता है। अर्थात् यह जो 'मैं' अनुभव करता हूं, संकल्प करता हूं––यह 'मैं' इस पराप्रत्यक्ष तत्व को केन्द्रित कर ही स्थिर है। जन्म से मृत्युपर्यन्त मनुष्य जीवन की असंख्य विचित्र अनुभूतियों की पुष्पपुन्ज को जो सूत्र माला के रूप में गुहता है वह यही 'मैं' का बोध है। जो 'मैं' शिशुकाल में वर्णमाला की शिक्षा ग्रहण करता था, वह यही 'मैं' अब दर्शन का विचार कर रहा है। अनुभव का परिवर्तनशीलता के बीच एक अपरिवर्तित अनुभवकारी स्थिर है।

परन्तु यहां एक बात का स्मरण रखना होगा। ऊपर जिस 'मैं' की

बात कही गई है, वह व्यक्तित्ववाचक नहीं, वह सार्वभौमिक है। काण्ट के अनुसार व्यक्तित्ववाचक 'मैं', शुद्ध 'मैं' नहीं है, वह शरीर और इन्द्रिय की सीमाओं में आबद्ध है। परन्तु पराप्रत्यक्ष का 'मैं' शुद्ध 'मैं' है, यह व्यक्तित्व की सीमा के बाहर है। यह 'व्यक्ति–मैं' नहीं है; 'व्यक्ति–मैं' का सत्य व्यक्ति में ही सीमित है, उसका सार्वभौमिकत्व नहीं है। परन्तु 'विश्व–मैं' जगत के मूलतत्व के रूप में होने के कारण उसका सत्य सार्वभौमिक है। यह 'विश्व–मैं' होने के कारण ही 'व्यक्ति–मैं' का अस्तित्व सम्भव है। यह शुद्ध मैं ही वास्तविक ज्ञाता है। शुद्ध–मैं कभी ज्ञेय पदार्थ नहीं हो सकता; क्योंकि इसी के द्वारा जानना सम्भव है। और जिसकेद्वारा जानने का काम सम्भव होता है, उसे कौन जान सकता है। सूर्यालोक में पृथ्वी की यावतीय वस्तु दृष्टि-गोचर होती है; कोई यदि सूर्य को दृष्टिगोचर करने के लिए आलोक का सन्धान करता है, तो वह जिस प्रकार वातुलताहै, इस शुद्ध–मैं या परम-ज्ञाता को जानने का प्रयास भी उसी प्रकार वातुलता है। व्यक्ति–मैं को ज्ञेय वस्तु के रूपमें जाना जा सकता है, परन्तु शुद्ध–मैं या परम ज्ञाता ज्ञान का ही सार्वभौमिक मूलतत्व है। यह सनातन और सब ज्ञान का मूलहै। इस सार्वभौमिक और सनातन ज्ञानतत्व के कारण ही, प्रत्येक मनुष्य के जगत का भिन्न-भिन्न रूप नहीं है। ज्ञानका यह मूलतत्व ही सब मनुष्यों की आत्म सचेतमता के बीच प्रकाशित होता है। यही कारण है कि मनुष्यों में विचारों का परस्पर आदान–प्रदान सम्भव है। इस पराप्रत्यक्ष का सार्व-भौमिक तत्व (Transcendental Unity of Apperception) बुद्धि के बीच ही कार्य करता है। यही कारण है कि बुद्धि की 'चिन्तन' क्रिया में जिस वाक्य की सृष्टि होती है, उसमें भी सार्वभौमिकता होती है। परन्तु

वाक्य (Judgment) चार सार्वभौम धारणाओं का ही विविध प्रकाश है। इसलिये वाक्य यदि पराप्रत्यक्ष के सार्वभौमिक तत्व का प्रकाश करता है तो उन चार सार्वभौमिक धारणाओं की सार्वभौमिकता पराप्रत्यक्ष के कारण ही सम्भव है। अतएव पराप्रत्यक्ष का सार्वभौमिक तत्व ही बुद्धिगत चारों सार्वभौमिक धारणा के बीच से 'चिन्तन क्रिया' में वाक्य (Judgment) के रूप में आत्म प्रकाश करता है। यही कारण है कि चारों धारणाएं भी सार्वभौमिक हैं और वाक्य भी सार्वभौमिक है।

वाह्य जगत या प्रकृति से हम जो कुछ समझते हैं, वह है कुछ नियमानुवर्ती घटनाओं का संयोग। यह संयोग सम्भव हो सका है सार्वभौमिक धारणाओं के कारण। इसलिये सुनियन्त्रित और सुसम्बद्ध घटनावली के बीच से जिस जगत को हम देखते हैं, उसका नियन्त्रण और विन्यास उपयुक्त सार्वभौम धारणाओं के प्रभाव का परिणाम है। इसलिये जिन नियमों के बीच से प्रकृति अपने एकत्व को कायम रखता है, वह हमारी बुद्धिगत सार्विक धारणाओं की ही देन है। अर्थात् अपनी बुद्धिगत सार्विक धारणा के द्वारा प्रकृति की सृष्टि हम स्वयं करते हैं। वह हमारे मन की ही रचना है। परन्तु जिस नियम को आश्रित कर उसकी रचना होती है, वह किसी विशेष मन का नियम नहीं है। वह सार्वभौमिक है, जो सब मनुष्यों में है। इसलिए जिस जगत की हम रचना करते हैं, वह सभी का एक ही जगत है।

अब हम यह समझ रहे हैं कि देश–काल के सांचे के अन्दर से हम संवेदनों को प्राप्त कर रहे हैं और बुद्धि की सार्वभौमिक धारणाओं द्वारा समन्वित होकर ये संवेदन वस्तु का रूप ग्रहण कर रहे हैं। इसलिये हम देख रहे

हैं कि ज्ञान में संवेदनग्राहिता (Sensibility) और बुद्धि (Understanding) का सहयोग है। परन्तु संवेदनग्राहिता और बुद्धि, ये समधर्मी नहीं हैं, इनकी प्रकृति एक दूसरे से भिन्न है। संवेदनग्राहिता के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध है, परन्तु बुद्धि का ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव ऐसे क्षेत्र में इन दो भिन्न धर्मियोंकी सहयोगिता किस प्रकार सम्भव है ? जो प्रत्यक्ष का विषय है (Perceptual Content) वह प्रत्यय का विषय (Conceptual Content) नहीं। तथापि ज्ञान की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष के तथ्य के साथ प्रत्यय के तथ्य का कोई विरोध नहीं है। इसलिये मन की संवेदनग्राहिता के साथ बुद्धि का निश्चय ही कोई योगसूत्र है, जिसके परिणामस्वरूप दोनों की सहयोगिता सम्भव हो सकी है। काण्ट के अनुसार यह योगसूत्र है, समन्वयी कल्पना (Transcendental Synthesis of Imagination)। वस्तुतः यह कोई पृथक् तत्व नहीं है; यह पराप्रत्यक्ष का ही एक प्रकाश है। यह भी बुद्धि कीसार्वभौमिक धारणा चतुष्टय के बीच से प्रकाशित होती है। अपरिणामी ज्ञाता के साथ परिवर्तनशील इन्द्रियानुभूति का सम्बन्ध स्थापित कर यह समन्वयी कल्पना ही हमारे इस जगत की सृष्टि में सहायता करती है।

परन्तु किस प्रक्रिया से इस प्रकार जगत की सृष्टि होती है, यह भी देखना होगा। काण्ट ने अब इसकी व्याख्या की चेष्टा की। काण्ट के अनुसार इन्द्रियानुभूति जिसकी सहायता से सार्विक धारणाओं के सांचे में ढलकर वस्तुमय जगत की सृष्टि करती है, वह है 'काल।' काल की विभिन्न अभिव्यक्तियों के बीच सार्वभौमिक धारणाएं व्यक्त होती हैं। जैसे मिट्टी में से विभिन्न रसों को एक प्रच्छन्न शक्ति उद्भिज के पत्र, पल्लव, फूल और

बीज, इन चार रूपों के बीच से प्रकाशित करती है, काल भी उसी प्रकार एक प्रच्छन्न शक्ति की नाईं विभिन्न इन्द्रियानुभूतिओं को परिमाण, गुण, सम्बन्ध और प्रकार, इन चार सार्वभौम धारणाओं के बीच प्रकाशित करता है और उसी के परिणामस्वरूप हमारी दुनिया की सृष्टि होती है।

अब हमने यह स्पष्ट रूप से समझा कि हमारी बुद्धि में जो सार्विक धारणा चतुष्टय हैं, वे ही हमारे जगत की सृष्टि करती हैं। सृजन शक्ति सम्पन्न इन चार सार्वभौमिक धारणाओं (Categories) का स्वरूप क्या है ? काण्ट ने इसकी व्याख्या करने की चेष्टा की है। चार सार्वभौमिक धारणाओं से, अनिवार्यरूप से चार सार्वभौमिक नियमों की उत्पत्ति हुई है। इन नियमों के द्वारा ही इन सार्वभौमिक धारणा चतुष्टय की प्रकृति का ज्ञान होता है।

प्रथम है परिमाणवाचक धारणा। इस धारणा का स्वरूप यह है कि यह इन्द्रियलब्ध यावतीय अनुभूति को परिमाण के रूप में ही हमारे निकट प्रकाशित करता है। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियानुभूति देश और काल के कुछ अंश पर अधिकार करेगी ही। इसलिये जो वस्तु इन्द्रियगोचर है, उसका परिमाण अवश्य होगा। परिमाण होने से ही वह क्षुद्रतर अंश में विभाज्य होगा। अतएव परमाणु (Atom) यदि अविभाज्य हो, तो समझना होगा कि उसका परिमाण नहीं है और इसलिए वह इन्द्रियगोचर नहीं हो सकता। इन्द्रियग्राह्य होने से ही, वह देश–काल के कुछ अंश पर अधिकार करेगा और तब उसका विभाजन भी क्षुद्रतर अंश में सम्भव होगा।

द्वितीय है, गुणवाचक धारणा। इसका स्वरूप यह है कि प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ के पदार्थत्व को यह विशिष्टता प्रदान करती है। अर्थात् इन्द्रिय-

ग्राह्य सब पदार्थों की एक स्वकीयता अवश्य होगी। पदार्थों की स्वकीयता नहीं होगी, तथापि वे इन्द्रियगोचर होंगे, ऐसा नहीं हो सकता। इसलिये शून्य (Void) नाम का कोई इन्द्रियग्राह्य पदार्थ नहीं है।

तृतीय है सम्बन्धवाचक धारणा। इस धारणा का स्वरूप यह है कि परस्पर सम्बन्धित रूप में ही जगत के सब पदार्थ हमारे निकट प्रकाशित होते हैं। सब परिवर्तन के बीच भी पदार्थ अपने पदार्थत्व को स्थायीत्व प्रदान करता है। देश, काल के बीच अवस्थान कर सभी पदार्थ परस्पराश्रयी हैं। कार्य-कारण सम्बन्ध के बीच से ही उनका आत्म-प्रकाश है। कार्य-कारण सम्बन्ध की व्याख्या काण्ट ने नये रूप में की है। यह कार्य-कारण सम्बन्ध बुद्धिगत सार्विक धारणा से उद्भूत है, इसलिये यह अनुभव का फल नहीं हो सकता। यह कार्य-कारण सम्बन्ध मनुष्य बुद्धि के अन्तर्गत है, इसीलिये मनुष्य का अनुभव सम्भव हो सका है। यदि बुद्धि की धारणा में कार्य-कारण सम्बन्ध का अस्तित्व न होता तो अनुभव सार्थक नहीं हो सकता। ह्यूम के अनुसार कार्य-कारण सम्बन्ध अनुभव-प्रसूत है, परन्तु काण्ट के अनुसार यह यथार्थ नहीं है। इसके अलावा यह भी सत्य नहीं कि इन्द्रियग्राह्य घटनाओं के क्रम से कार्य-कारण सम्बन्ध का ज्ञान उत्पन्न होता है। क्योंकि 'क्रम' का हमारा जो अनुभव है, उसका 'क्रमत्व' बुद्धिगत सार्विक धारणा की कार्य-कारण विधि का वहिःप्रकाश छोड़ और कुछ नहीं है। कार्य-कारण सम्बन्ध हमारे अन्दर है, इसीलिये हमारे लिये क्रम का ज्ञान सम्भव है। वस्तुतः सम्बन्ध का कोई भी ज्ञान इन्द्रियलब्ध नहीं दे सकता। क्योंकि सम्बन्ध है बुद्धिगत (A Priori) सार्विक धारणा। इस बुद्धिगत सम्बन्ध की धारणा ने ही हमारी इन्द्रियलब्ध ज्ञान को सम्भव किया है। बुद्धिगत

इस सम्बन्ध की धारणा को आश्रित कर ही, जगत जगत के रूप में हमारे ज्ञान में प्रकाशित है।

चतुर्थ है प्रकारवाचक धारणा। इसके नियम के अनुसार यह जाना जा सकता है कि कौन-सी घटना संभव है और कौन-सी घटना अनिवार्य है। जो घटना देश-काल के नियम का उल्लंघन नहीं करती है, वह संभव है और जिन घटनाओं के न घटित होने से वे नियम ही रद्द हो जाते हैं, वे अनिवार्य हैं। इसलिये जगत में काक-ताल सम्भव नहीं।

उपरोक्त नियम विज्ञान की भित्ति हैं। उनको आश्रित कर ही विज्ञान सम्भव है। विज्ञान इन नियमों को प्रमाणित नहीं कर सकता, केवल उनको स्वीकार कर लेता है। मनुष्य की बुद्धि के अन्दर ही सार्वभौमिक नियम हैं, और इन नियमों के संगठन में ही असंख्य विभिन्न पदार्थ हमारे अनुभव के समक्ष एक सुनियंत्रित जगत के रूप में उपस्थित होते हैं। इसलिये जगत के नियम भी सार्वभौमिक और अनिवार्य होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं। विज्ञान के नियम सबके लिये सत्य हैं, इसका कारण ही यह है कि ये नियम मनुष्य के बुद्धिगत सार्वभौमिक नियमों के प्रकाशमात्र हैं। ह्यूम की भांति के अनुभववादी जब कहते हैं कि सार्विक या अनिवार्य-सत्य कुछ नहीं हैं, तो काण्ट के अनुसार वे भूल करते हैं।

ज्ञान-तत्व के सम्बन्ध में उल्लिखित आलोचना में काण्ट ने यही दिखलाने की चेष्टा की है कि बुद्धिवादी और अनुभववादी दोनों की ज्ञान-मीमांसाएं आंशिक रूप में सत्य हैं। अर्थात् ज्ञान, मनुष्य बुद्धि का सहजात सम्पद भी है, और साथ ही इन्द्रियलब्ध भी है। परन्तु यह न तो पूर्णरूप से बुद्धि-जात है और न पूर्णरूप से इन्द्रियलब्ध। काण्ट ने दिखलाया कि ज्ञान में दो

प्रकार के उपादान हैं। वाह्यजगत से इन्द्रिय मार्ग पर आगत इसका प्राथमिक उपादान है और बुद्धि की वह निजी सृजन शक्ति जो इस प्राथमिक उपादान को समन्वित तथा अर्थ पूर्ण कर एक वस्तुमय जगत के रूप में हमारे सामने उपस्थापित करता है, वह है द्वितीय उपादान। बुद्धि की यह शक्ति सार्वभौमिक है, इसीलिये हमारा ज्ञान भी सार्वभौमिक तत्व के ऊपर प्रतिष्ठित है। गणित का सत्य जो हमारे निकट सार्विक और अनिवार्य जान पड़ता है, उसका कारण यह है कि गणित, देश और काल, मनुष्य के बुद्धिगत इन दो सार्वभौमिक तत्वों पर प्रतिष्ठित है। वैज्ञानिक तथ्यों में जो सार्विकता और अनिवार्यता है, उनका कारण भी बुद्धिगत चारों सार्वभौम धारणाएं हैं।

परन्तु यह स्वीकार करना ही होगा कि इन्द्रियमार्ग से उपस्थित होने पर ही वाह्यजगत के तथ्य सार्विक और अनिवार्य रूप ग्रहण करते हैं। यदि यह प्रश्न किया जाय कि इन्द्रियमार्ग पर उपस्थित होने के पहिले उन तथ्यों का क्या स्वरूप है तो इसका उत्तर हम नहीं दे सकेंगे। क्योंकि हमारे जानने की प्रक्रिया के साथ-साथ वे रूप ग्रहण कर लेते हैं। हमारे लिये शुद्ध वस्तु या वस्तुस्वरूप (pure thing, thing-in-itself) के जानने का कोई उपाय नहीं है। इसलिये, ज्ञान का स्वरूप विचार करते हुए हमारे ज्ञान की सीमाएं भी निर्दिष्ट हो जाती हैं। ज्ञान कहने से ही उन वस्तुओं का ज्ञान समझा जायगा, जो हमारे इन्द्रिय और बुद्धि की पकड़ में आती हैं। इसलिये इन्द्रियग्राह्य जगत (Phenomenal World) के पीछे एक इन्द्रियातीत जगत (Noumenal World) रह जाता है।

काण्ट ने अब यह प्रश्न उठाया कि क्या इस इन्द्रियातीत जगत के जानने

का कोई भी उपाय नहीं है ? मन की संवेदनग्राहिता या बुद्धि के द्वारा इस अतीन्द्रिय जगत को जाना नहीं जा सकता। काण्ट के अनुसार देशकाल के बाहर इस अतीन्द्रिय जगत को बुद्धि के द्वारा इसलिये नहीं जाना जा सकता है कि बुद्धि खण्डधर्मी (Discursive) है। एकमात्र अखण्ड-धर्मी अपरोक्ष अनुभूति के द्वारा ही इस जगत को जाना जा सकता है। इस अतीन्द्रिय जगत के सम्बन्ध में हम इतना ही कह सकते हैं कि यह इन्द्रिय के परे है। हमारे निकट यह एक सीमावाचक धारणा मात्र है। काण्ट के अनुसार इन्द्रियग्राह्य जगत के पीछे इसके कारण स्वरूप, अनुभव-निर-पेक्ष और एक जगत को हमें स्वीकार करना ही होगा। जैसे बहिर्जगत के सम्बन्ध में, उसी प्रकार अन्तर्जगत के लिए भी कहा जा सकता है। जिस 'मैं' को हम जानते हैं वह है देश-कालद्वारा सीमित 'मैं' अनुभवाश्रयी 'मैं'। जो 'मैं' हमारे अनुभव को सार्थक बनाता है, क्या हम उस अतीन्द्रिय जगत के 'मैं' या आत्मा को जान सकते हैं? काण्टने इस प्रश्न का उत्तर अपने पाठकों पर ही छोड़ दिया है।

मनन का विश्लेषण

(Transcendental Dialectic)

मन की संवेदनग्राहिता और 'चिन्तन' का विश्लेषण कर हमने देखा कि गणित और पदार्थ विज्ञान कैसे सम्भव हो सके हैं। अब 'मनन' का विश्लेषण कर काण्ट ने यह दिखलाने की चेष्टा की कि अतिविज्ञान (Metaphysics) किस प्रकार सम्भव है।

ईश्वर नामकी कोई वस्तु है या नहीं, मनुष्य आत्मनियन्त्रित है अथवा

वाह्य जगत की घटनाओं द्वारा नियन्त्रित है, मनुष्य में कोई अविनश्वर वस्तु है या नहीं—काण्ट के अनुसार यही अतिविज्ञान की आलोचना के विषय हैं। परन्तु ये सब तो अतीन्द्रिय जगत की बातें हैं। हमने पहिले ही देखा है कि हमारा कुल ज्ञान इन्द्रियग्राह्य जगत तक ही सीमित है। हमारा बुद्धि-विचार उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। इसलिये यदि अतिविज्ञान की आलोचना के विषय अतीन्द्रिय जगत के ही तथ्य हैं, तो फिर हमारे लिये अतिविज्ञान का ज्ञान असम्भव है।

काण्ट ने यहां मनुष्य के अन्तर्जीवन के एक परम रहस्य का उल्लेख किया है। मनुष्य के अंदर है, एक अनन्त अभीप्सा; यह है अनुभव की सीमा को पार करने की एक व्याकुलता। अर्थात् इन्द्रियग्राह्य जगत तो हमारा परिचित है, परन्तु इस परिचित जगत को लेकर हम तृप्त नहीं रह पाते, जो अपरिचित है, जो इन्द्रियगोचर नहीं है, उसके साथ परिचित होने के लिये मनुष्य के अन्तर में एक तृष्णा है। जिसे हम अनुभव में नहीं पाते, उसी को अनुभव के अन्तर्गत करने की यह व्याकुलता है। असीम को सीमान्तर्गत करने का यह आग्रह मनुष्य के अन्तर का एक परम रहस्य है। जिसको नहीं पहचानते, उसको 'मानों पहचान रहे हैं' इस रूप में लेने की प्रवणता मनुष्य के अन्दर चिरकाल से है। इसलिये, यद्यपि अतिविज्ञान के विषय मनुष्य के इन्द्रियग्राह्य विषय नहीं हैं, तथापि उनकी आलोचना और उन पर विचार करने का आग्रह मनुष्य ने सदा प्रकाश किया है। अतएव काण्ट के अनुसार अतिविज्ञान की आलोचना विज्ञान की भांति न करते हुए भी, मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवणता के तौर पर इसकी आलोचना की जा सकती है।

काण्ट ने मनन के विश्लेषण के द्वारा यही दिखलाया है कि अतिविज्ञान

(Metaphysics) की आलोचना किस प्रकार सम्भव है। अर्थात् मनन के विश्लेषण में इसी की खोज की चेष्टा है कि मनुष्य के अंतर में कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो केवल इन्द्रियग्राह्य जगत का ही संगठन नहीं करती, बल्कि इस जगत को पार करने का भी प्रयास करती है। संवेदनग्राहिता (Sensibility) और बुद्धि (Understanding) मनुष्य की इस प्रवणता की व्याख्या नहीं कर सकतीं। काण्ट ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि बुद्धि के परे भी मनुष्य में एक ऐसी शक्ति है, जिसका फल है इस प्रकार की प्रवणता। इसको कहा जा सकता है प्रज्ञा (Reason)। काण्ट ने प्रज्ञा की व्याख्या कर यह दिखलाया है कि अतीन्द्रिय जगत ही इसकी आलोचना का विषय है; परन्तु अनुभव के बाहर इस अतीन्द्रिय जगत को जानने की चेष्टा करते हुए यह उसको भी इन्द्रियग्राह्य वस्तु की भांति अनुभव के दायरे में डाल देती है। इसका परिणाम यह होता है कि अतीन्द्रिय जगत के अतीन्द्रियत्व का भी लोप हो जाता है। अतएव प्रज्ञा का यह प्रयास व्यर्थ हो जाता है और सत्य की उपलब्धि में असमर्थ होकर हम कुछ भ्रान्त धारणाओं का अवलम्बन कर लेते हैं।

प्रज्ञा (Reason) के साथ बुद्धि (Understanding) का पार्थक्य है। यद्यपि दोनों का लक्ष्य है अनुमान के द्वारा सिद्धान्त पर पहुंचना, तथापि बुद्धि पहुंचती है साक्षात् अनुमान (Immediate Inference) के द्वारा, और प्रज्ञा, परोक्ष अनुमान (Mediate Inference) के द्वारा। प्रज्ञा की क्रिया भी समन्वय साधन है; परन्तु यह बुद्धि के समन्वय के भी ऊपर है। जिन नियमों के आधार पर बुद्धि की

समन्वय-क्रिया सम्भव होती है, प्रज्ञा, उन मूल नियमों के समन्वय की चेष्टा करता है। इस समन्वय का लक्ष्य है परम पूर्णता (Absolute Totality) ज्ञात या अज्ञात विश्व की कोई वस्तु इसके बाहर न होगी। मनुष्य के अनुभव के अन्दर जो कुछ है, या जो कुछ इसके बाहर है, इन्द्रियग्राह्य अथवा इन्द्रियातीत, सब कुछ को लेकर है यह परम पूर्णता। अतएव अनुभव की सीमा के अन्दर इसको पकड़ने की चेष्टा व्यर्थ है। परन्तु इस परम पूर्णता के सन्धान में प्रज्ञा इसको अनुभव की सीमा के अन्दर लाने की चेष्टा करती है। यह चेष्टा करती है, इसीलिये परम पूर्णता, हमारे अनुभव में प्रकाशित न होकर मात्र अनुभव-निरपेक्ष धारणा के रूप में (Transcendental Idea) हमारे सामने उपस्थित होती है। यह है प्रज्ञा की शुद्ध धारणा। इन्द्रियग्राह्य जगत में इसका कोई प्रतिरूप नहीं है। इसको हम वस्तु रूप में नहीं पाते हैं, बल्कि पाते हैं भावरूप में।

उक्त परमपूर्णता को जानने के लिये मनुष्य में जो प्रवणता है, वह तीन विभिन्न क्षेत्रों में आत्मप्रकाश करती है। प्रथम—हमारे अन्तर्राज्य के अनुभव को पूर्णतमरूप से जानने की चेष्टा। वास्तव में यह पूर्णता सम्भव नहीं, इसीलिये यह एक आदर्श मात्र रह जाताहै। अन्तर्राज्य के इस पूर्णता के आदर्श से ही आत्मा के सम्बन्ध में हमारी धारणा की उत्पत्ति है। द्वितीय—वाह्यजगत की यावतीय घटनाओं का सम्पूर्ण ज्ञान। यह सम्पूर्णता भी आदर्श मात्र है। इसी से हमको मिली है अखिल विश्व की धारणा। तृतीय—वाह्यान्तर सब कुछ का ज्ञान। इस पूर्णतम सर्वग्रासी ज्ञान के आदर्श से उत्पन्न होती है, ईश्वर की धारणा। इसलिये हम देखते हैं कि प्रज्ञा ने हमें दिया है, (क) आत्मा की धारणा—और इससे जन्म हुआ है मनो-

विज्ञान (Rational Psychology) का; (ख) विश्व-प्रकृति के सम्बन्ध में धारणा, जिससे उत्पन्न हुआ है प्रकृति-विज्ञान (Rational Cosmology); (ग) ईश्वर के सम्बन्ध में धारणा और इससे उद्भव हुआ है, धर्मशास्त्र (Rational Theology) का। मनन का विश्लेषण कर काण्ट ने यह विचार किया है कि मनोविज्ञान, प्रकृति-विज्ञान और धर्म-विज्ञान सचमुच हमें आतमा, जगत और ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान दे सकते हैं या नहीं।

(क) काण्ट के अनुसार जिस युक्तिबल पर मनोविज्ञान ने यह स्वीकार कर लिया है कि आतमा, अजड़, अविनश्वर और अविभाज्य है, वह युक्ति ठीक नहीं, वह भ्रमात्मक सिद्धान्त (Paralogisms) मात्र है। मनोविज्ञान जानना चाहता है "शुद्ध मैं" या परम ज्ञाता के स्वरूप को। परन्तु यह तो सम्भव नहीं। ज्ञाता को जानने के प्रयास में, ज्ञाता, ज्ञाता नहीं रह जाता। उसी क्षण वह ज्ञेय पदार्थ के अन्तर्भुक्त हो जाता है, और ज्यों ही वह ज्ञेय पदार्थ हुआ त्यों ही वह फिर ज्ञाता नहीं रह जाता है। अर्थात् 'शुद्ध मैं' या परम ज्ञाता सब समय चारों सार्वभौम धारणाओं (Categories) के पीछे है; इसको जानने की चेष्टा करने पर ही उन चार सार्वभौम धारणाओं को सामने रखना पड़ेगा, और उस अवस्था में सार्वभौम धारणाओं के सांचे में ढाल कर ही उसका प्रकाश होगा। परिणामस्वरूप इसकी शुद्धता नहीं रहेगी, यह 'व्यक्ति मैं' हो जायगा। मनोविज्ञान ने सदा इस 'व्यक्ति मैं' को ही परम ज्ञाता मान लिया है। ज्ञान की विशेषता यदि ज्ञाता या ज्ञेय पदार्थ के ऊपर निर्भर है, तो उस ज्ञान में परम ज्ञाता को प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि परमज्ञाता सब सम्बन्ध के अतीत है, और इसलिये वह परम

शुद्ध है। "तर्क-विचार का मैं" (Logical Self) सम्बन्ध-आश्रित है; परन्तु 'शुद्ध मैं' या अतिविज्ञान का 'मैं' (Metaphysical Self) सम्बन्ध के अतीत है। इन दोनों 'मैं' में बड़ा पार्थक्य है। देकार्ते ने कहा था —"मैं विचार करता हूं, इसलिये मैं हूं"। काण्ट के अनुसार देकार्ते यह नहीं समझ सके कि 'मैं विचार करता हूं' इसका 'मैं' और 'मैं हूं' इसका 'मैं' एक नहीं है। प्रथम है तर्क-विचार का 'मैं', और दूसरा है अतिविज्ञान का 'मैं'। इसलिये देकार्ते ने वास्तव में तर्क-विचार के 'मैं' के अस्तित्व को ही प्रमाणित किया है, 'शुद्ध मैं' या परम ज्ञाता के अस्तित्व को वह प्रमाणित नहीं कर सके हैं। इसलिये हम देखते हैं कि 'शुद्ध मैं' के स्वरूप को जानने का कोई उपाय नहीं है। यह हमारे निकट अज्ञेय है।

(ख) प्रकृति तत्व या विज्ञान के सिद्धान्त में भी हम युक्ति प्रदर्शन की चेष्टा में इसी प्रकार की समस्या का सम्मुखीन होते हैं। एक घटना को जानकर विज्ञान को तृप्ति नहीं मिलती, उस घटना के साथ संश्लिष्ट अन्य घटनाओं के जानने का उसे आग्रह होता है, और वह आग्रह तब तक प्रशान्त नहीं होता, जब तक अखिल विश्व की समस्त घटनाओं को सम्पूर्ण रूप से वह जान नहीं पाता। परन्तु प्रकृति का इस प्रकार का सम्पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं है। इस प्रकार की सम्पूर्णता, ज्ञान की सीमा के रूप में ही रह जाती है, वास्तव अनुभव की पकड़ में वह नहीं आती। विज्ञान प्रकृति को चारों सार्वभौम धारणाओं (Categories) के बीच ही जानना चाहता है। पहिली बात यह है कि देश और काल की सीमा के अन्तर्गत इसकी परिमाणगत विशिष्टता को वह देखना चाहता है और दूसरी बात यह है कि प्रकृति की गुणगत विशिष्टता को वह देखना चाहता है। अर्थात् जड़ का स्वरूप क्या है, उसको क्षुद्रतर अंशों

में विभाजित किया जा सकता है, या नहीं, इत्यादि । तीसरा कार्य-कारण सम्बन्धगत विशिष्टता। इसमें विज्ञान की चेष्टा है, कार्य के पीछे जो कारण है, उनको पूर्णरूप से जानना । चौथी बात है प्रकृति की प्रकारगत विशिष्टता। असंख्य, विचित्र जितने प्रकार की वस्तु जगत में हैं, उनका सम्पूर्ण ज्ञान ।

प्रकृति को पूर्वोक्त सम्पूर्ण रूप में जानने की चेष्टा में हमारी बुद्धि कुछ परस्पर-विरोधी मतों (Antinomies) की सृष्टि कर बैठती है। और यह भी एक समस्या का विषय है कि ये परस्पर-विरोधी मत, विरोधी होने पर भी यथार्थ प्रतीत होते हैं । अर्थात् युक्ति के प्रयोग द्वारा जैसे यह कहा जा सकता है कि विश्व, देश और काल की सीमाओं से आबद्ध है, दूसरी, ओर युक्ति के प्रयोग के द्वारा यह भी कहा जा सकता है कि विश्व, देश और काल की सीमाओं से आबद्ध नहीं है । जड़ को क्रमपूर्वक विभक्त किया जा सकता है, यह सिद्धान्त भी जिस प्रकार सम्भव है, उसको इस प्रकार विभक्त नहीं किया जा सकता, यह सिद्धान्त भी उतना ही सम्भव है । इसी प्रकार, मनुष्य का संकल्प स्वाधीन है, और नहीं भी है--वह बाहरी घटनाओं द्वारा नियन्त्रित है; जगत के मध्य में या बाहर इसका एक परिचालक है, और फिर ऐसा कोई परिचालक नहीं भी है ।

अतएव हम देखते हैं कि प्रज्ञा का स्वभाव ही है पूर्णता को जानने का प्रयास, विश्व की समग्रता को अखंडरूप में अपने मातहत में करने का एकान्त आग्रह । परन्तु बुद्धि अपनी प्रकृति के अनुसार जब-जब जानने की चेष्टा करती है, तो वह खण्डित रूप में ही। अर्थात् मनुष्य में प्रकृति की समग्रता को अखण्डरूप में जानने की अनुरक्ति जिस प्रकार है, जानने के प्रयास काल में

उसको खण्डित करने की अनिवार्यता भी उसी प्रकार है। इस प्रकार प्रज्ञा (Reason) और बुद्धि (Understanding) के बीच एक विपरीत मुखीनता है; और इसी के परिणामस्वरूप परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों की उत्पत्ति सम्भव है।

काण्ट के अनुसार ये परस्पर-विरोधी सिद्धान्त, विरोधी होने के कारण ही मिथ्या या मन की कल्पनामात्र नहीं है। इन परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के बीच से ही हम देख पाते हैं कि हमारी प्रज्ञा (Reason) अनुभव की सीमा को निरन्तर पार करने की चेष्टा कर रही है। समस्या का कारण ही यह है कि हम पदार्थ के स्वरूप को जानना चाहते हैं, परन्तु उसको देश-काल के सांचे में ढालकर ही देखना चाहते हैं। हम विश्व के अखण्ड रूप को आयत्त में लाना चाहते हैं, परन्तु इस आयत्त करने की पद्धति में ही उसको खण्डित कर डालते हैं। इसलिये प्रज्ञा, मूर्त रूप में किसी सत्य वस्तु को लाभ करने में हमें सहायता प्रदान नहीं करती, यह केवल मार्ग का निर्देश करती है।

पृथ्वी की कोई घटना अन्य किसी घटना के द्वारा नियन्त्रित है या नहीं, काण्ट ने इस विषय की विशद आलोचना की है। पृथ्वी की सभी घटनाएं कार्य-कारण संबंध को स्वीकार कर चलती हैं। परंतु यह कल्पना के अतीत है कि मनुष्य जीवन के सब क्षेत्रों में इस प्रकार घटना द्वारा यन्त्र की भांति नियन्त्रित होना पड़ेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मनियन्त्रण का कोई स्थान अवश्य है। लेखक जब लिखता है तो क्या वह जगत की घटनावली के परस्पर सम्बन्ध का परिणाम मात्र है? क्या इसमें उसके स्वाधीन इच्छा का कोई प्रभाव नहीं है? ऐसा ख्याल हो सकता है कि उत्ताप के आधिक्य

का अभाव, अन्य लोगों की अनुपस्थिति, शरीर का स्वस्थ होना, इत्यादि घटनाएं एकत्र होकर लेखक के लेख रूप कार्य को घटित करते हैं; अर्थात् उनके लिखने की इच्छा को जागृत कर लेख को घटना में परिणत करते हैं। परन्तु ऐसा भी तो हुआ है कि उन कारणों के विद्यमान होते हुए भी लेखक के लिखने की प्रवृत्ति जागृत नहीं हुई, या यह केवल इच्छामात्र रह गई, लेख कार्यरूप में परिणत नहीं हो सका है। इससे जान पड़ता है कि स्वतन्त्र इच्छा या संकल्प नाम की कोई वस्तु अवश्य है, जो बाहरी घटनाओं द्वारा नियन्त्रित नहीं है।

काण्ट ने यह दिखलाने की कोशिश की है कि कार्य-कारण का नियन्त्रण जितना सत्य है, स्वाधीन संकल्प भी उतना ही सत्य है। यदि इन्द्रियग्राह्य जगत ही एकमात्र सत्य होता तो कार्य-कारण की अवश्यम्भाविता और स्वाधीन इच्छा ये परस्पर विरोधी होतीं। परन्तु ऐसा तो है नहीं। इस इन्द्रियग्राह्य जगत के पीछे है अतीन्द्रिय जगत। इन्द्रियग्राह्य जगत में कार्य-कारण का नियम ही एकमात्र नियम है; यह जगत कार्य-कारण के नियम को ही प्रकाशित करता है। परन्तु अतीन्द्रिय जगत में कार्य-कारण का नियम अचल है। वह देश-काल की सीमा के बाहर है, इन्द्रियानुभूति की विधि वहां नहीं है। दृश्यमान जगत के मूल में यह जगत ही कारणरूप में वर्त्तमान है। यह कारणरूपी अतीन्द्रिय जगत ही, इन्द्रियग्राह्य जगत की घटना परम्परा में, कार्यरूप में प्रकाशित होता है।

अतएव इन्द्रियग्राह्य वस्तु के मूल में है, एक अतीन्द्रिय तत्व और उसी के बल पर इन्द्रियग्राह्य वस्तु का उद्भव होता है। इसलिये, काण्ट के अनुसार, कार्य-कारण विधि का, दो भिन्न रूप में विचार किया जा सकता है। कारण

रूप में यह अतीन्द्रिय है, परन्तु कार्य रूप में यह इन्द्रियग्राह्य है। इस प्रकार एक रूप में मनुष्य का स्वाधीन संकल्प प्राकृतिक घटनाओं का परिचालक है; और दूसरे रूप में यह प्राकृतिक घटनाओं द्वारा परिचालित है। वह अतीन्द्रिय तत्व, इन्द्रियग्राह्य वस्तु के रूप में हमारे निकट उपस्थित नहीं होता है। हमारे निकट उपस्थित वही होता है, जो इन्द्रियग्राह्य है। इन दो भावों को ग्रहण कर काण्ट ने विश्लेषण के द्वारा यह दिखलाने की चेष्टा की है कि स्वाधीन संकल्प और कार्य-कारण की अनिवार्यता, दोनों परस्पर विरोधी न होकर भी वर्तमान रह सकते हैं। इन्द्रियग्राह्य ज्ञान के जगत की दृष्टि से देखा जाय तो जगत की सब घटनाएं कार्य-कारण नियम से बंधे हुए हैं। इसलिये मनुष्य के जो कार्य वाह्य जगत में घटनाओं के रूप में प्रकाश प्राप्त करते हैं, वे तो कार्य-कारण नियम के अधीन होंगे ही। स्वाधीन इच्छा से जिसको बोध होता है, वह इस इन्द्रियग्राह्य जगत की वस्तु नहीं है, इसलिये कार्य-कारण विधि के अधीन भी नहीं है। मनुष्य के क्षेत्र में व्यावहारिक जगत की कार्य-कारण विधि अतीन्द्रिय जगत के नियम का ही वहिः-प्रकाश है। अर्थात् अतीन्द्रिय जगत में जो कारणरूप में विद्यमान है, बाहर इन्द्रियग्राह्य जगत में वही कार्यरूप में प्रकाशमान है। काण्ट के अनुसार, इसी प्रकार दो जगतों में एक योगसूत्र है। मनुष्य इन दोनों जगतों का अधि-वासी है। मनुष्य की प्रज्ञा आत्मनियन्त्रित है, वह कार्य-कारण विधि को बिना स्वीकार किये भी चल सकता है। परन्तु प्रज्ञा परिचालित होते हुए भी जब कभी इन्द्रियग्राह्य जगत की घटना के रूप में कुछ प्रकाशित होगा, तब वह इन्द्रियग्राह्य जगत की कार्य-कारण विधि के भी अधीन होगा।

मनुष्य की प्रज्ञा आत्मनियन्त्रित या स्वाधीन है, इसीलिये प्रत्येक मनुष्य

में औचित्य-बोध है। यह औचित्य-बोध अनुभव का फल नहीं है, यह जन्मगत है। अर्थात् मनुष्य, मनुष्य होने के कारण ही, उसमें उचित अनुचित का बोध है। जागतिक घटनाएं केवल घटित होती हैं, घटित होना ही उनका लक्षण है, उनके औचित्य का प्रश्न ही नहीं उठता। औचित्य-बोध प्रज्ञा का निजी स्वभाव है। इसलिये काण्ट के अनुसार, मनुष्य में प्रज्ञा होने के कारण मनुष्य स्वाधीन कर्त्ता है, अर्थात् आत्मनियन्त्रित है। परन्तु उसका कार्य जब इन्द्रियग्राह्य जगत में घटना के रूप में प्रकाशित होता है, तो उस जगत की कार्य-कारण विधि के अन्तर्गत हो जाता है।

(ग) मनन के विश्लेषण के तीसरे अंश में काण्ट ने ईश्वर के सम्बन्ध में मनुष्य की धारणा की आलोचना की है। ईश्वर के सम्बन्ध में हमारी जो धारणा है, उसकी उत्पत्ति प्रज्ञा से हुई है।

धर्मशास्त्र में ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो प्रमाण दिये गये हैं, काण्ट के अनुसार वे व्यर्थ हैं; क्योंकि ईश्वर की एक धारणा होते हुए भी, उस धारणा का प्रतिरूप कोई पदार्थ, वास्तव में इन्द्रियग्राह्य जगत में नहीं है। कोई पदार्थ वास्तव में है, इसको स्वीकार करने का अर्थ है उसे हमारी सम्भाव्य अनुभव की समष्टि से युक्त करना। सब सम्भव अनुभव के पीछे अनुभव-निरपेक्ष एक पटभूमि है। यह पटभूमि है सत्ता की समग्रता की धारणा (Idea of the Sum Total of Reality)। हमारा जो कुछ प्रतिपाद्य है, वह इसी का अवलम्बन कर। सत्ता का यह समग्र रूप ही सभी सम्भाव्य खण्ड वस्तुओं का आश्रय है। समग्रता के कारण और सब सम्भावनाओं का आश्रय होने के कारण, वह एक है। सत्ता का समग्र रूप, जो एक है, वही ईश्वर है।

हमारे सब प्रतिपाद्यों का आश्रय, सत्ता के समग्र रूप का प्रतीक यह जो ईश्वर है, यह मनुष्य मन की एक अनिवार्य धारणा है। ईश्वर की इस धारणा का काण्ट ने नाम दिया है प्रज्ञा का आदर्श (Ideal of Pure Reason)। परन्तु अनिवार्य होने पर भी यह आदर्शमात्र है, इसकी कोई वास्तविकता नहीं है। इस आदर्श को वास्तव के रूप में ग्रहण करने कोजाकर ही धर्मशास्त्र (Rational Theology) ने परस्पर विरोधी मतों की सृष्टि की है। ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में धर्मशास्त्र में जो युक्ति प्रदर्शित की गई है, उसमें दो धारणाओं को सम्मिलित किया गया है। एक है पूर्णतम सत्ता (Most Real Being) और दूसरा है, अनिवार्य अस्तित्व (Necessary Existence)। इन दोनों को मिलाकर कहा गया है कि जो पूर्णतम सत्ता है, उसका अस्तित्व अनिवार्य है।

ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में जितनी युक्तियां हैं, उनको तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है, यथा--

(क) उद्देश्यबोधक युक्ति (Teleological Argument)। प्रत्येक वस्तु की सृष्टि के पीछे एक योजना होती है और योजनाकार उससे अवगत रहते हैं, इसलिये इस विराट विश्व की सृष्टि के पीछे एक योजना है और जिनको यह योजना ज्ञात है, वही सर्वज्ञ ईश्वर हैं।

(ख) कार्य-कारण की युक्ति (Causal Argument)।

(ग) पूर्णता-अस्तित्व की युक्ति (Ontological Argument)। देकार्ते के दर्शन में ही, द्वितीय और तृतीय युक्ति का परिचय हमें मिल चुका है।

काण्ट के अनुसार उद्देश्यबोधक युक्ति ठीक नहीं है। प्रत्येक वस्तु की सृष्टि के पहिले एक योजना होती है, यह सत्य है, और यह भी सत्य है कि इस

जगत की सृष्टि के पहिले उसकी योजना किसी ने बनाई है। यदि कहा जाय कि ईश्वर ने ही जगत की सृष्टि के पहिले यह योजना बनाई है, तो इससे यही प्रमाणित होता है कि ईश्वर जगत की योजना-कर्ता हैं; परन्तु वह इसके सृष्टि कर्ता भी हैं, यह इससे प्रमाणित नहीं होता। क्योंकि योजना बनाने से सृष्टि भी करनी होगी, ऐसी कोई बात नहीं है। योजना, सृष्टि नहीं है। इसलिये देकार्ते की युक्ति ने यही दिखलाया है कि ईश्वर योजना-कर्ता है। परन्तु यह प्रमाणित नहीं किया है कि वह सृष्टिकर्ता भी हैं।

काण्ट ने और भी दिखलाया है कि देकार्ते की कार्य-कारण युक्ति में भी भूल है। कार्य-कारण विधि व्यावहारिक जगत की विधि है; इसका प्रयोग पारमार्थिक जगत के लिये किया गया है। प्रत्येक कारण का एक कारण होगा, यह स्वीकार करने पर प्रथम कारण का कहीं पता नहीं मिल पायेगा। सलिये इस अनन्त क्रम की समस्या के समाधान के लिये एक अनिवार्य आदि कारण ईश्वर को स्वीकार किया गया है। सब कारणों का कारण रूप यह ईश्वर हमारे निकट भी वास्तव नहीं होगा; एक अन्तिम सम्भावना के रूप में ही इसका अस्तित्व होगा। ईश्वर का यह जो अस्तित्व है, वह अस्तित्व की सम्भावना मात्र है, वास्तविक अस्तित्व नहीं है। अतएव जो प्रमाणित हुआ वह ईश्वर का अस्तित्व नहीं,, बल्कि ईश्वर के सम्बन्ध में एक धारणा का अस्तित्व है।

और भी कहा गया है कि चूंकि ईश्वर पूर्णतम है, इसलिये उनका अस्तित्व है। क्योंकि पूर्णतम होकर भी अस्तित्व न रहेगा, ऐसा नहीं हो सकता। 'कुछ न रहना' अथवा 'कुछ हो न सकना'—यह तो अपूर्णता का ही परिचायक है। ईश्वर यदि पूर्णतम हैं तो उनका अस्तित्व अनिवार्य है। काण्ट के

अनुसार यह युक्ति समीचीन नहीं है। किसी सर्वांग सम्पूर्ण वस्तु की धारणा हम अवश्य कर सकते हैं, परन्तु वह वस्तु यथार्थ में है या नहीं, यह अप्रमाणित रह जाता है। अर्थात् सर्वांग सम्पूर्ण होने से ही, वास्तव में उसका अस्तित्व होगा ऐसी कोई बात नहीं है।

शुद्ध-बुद्धि के विचार-विश्लेषण से काण्ट जिन सिद्धान्त पर पहुंचे हैं, संक्षेप में वे ये हैं कि, मनुष्य-ज्ञान का आरम्भ है प्रत्यक्ष से; इस प्रत्यक्ष से प्रत्यय (Concept) का जन्म होता है; और इसकी समाप्ति है प्रज्ञा की धारणाओं (Ideas of the Reason) में। ज्ञान के इन स्तरों में से प्रत्येक का उद्‌गम मन में हैं। परन्तु इसमें से कोई हमें अनुभव के बाहर नहीं ले जा सकता। मनोविज्ञान, प्रकृति तत्व और धर्मशास्त्र जिन धारणाओं को आश्रित किये हुए हैं, उनका कोई वास्तविक प्रतिरूप नहीं है। ये केवल आदर्शरूप में ही हैं। हम ईश्वर की धारणा करते हैं, क्योंकि ईश्वर ही परम ऐक्य है। इसी प्रकार हम मन नामक एक पदार्थ की धारणा कर लेते हैं, क्योंकि इसी को आश्रित कर चेतना का अस्तित्व है। काण्ट नें यह दिखलाने की चेष्टा की है कि इन धारणाओं का प्रतिरूप कोई वास्तव-पदार्थ नहीं है, तथापि हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि इनके होने की सम्भावना है।

नैतिक बोध का विचार-विश्लेषण

(Critique of Practical Reason)

शुद्ध-बुद्धि के विचार-विश्लेषण में काण्ट जिस सिद्धान्त पर पहुंचे हैं, उससे हमने देखा कि हम निश्चयरूप से कुछ जान न सके। इन्द्रियग्राह्य जगत के पीछे रहकर परमतत्व हमको आकर्षित मात्र करता है, परन्तु मूर्त

होकर अपने स्वरूप में वह हमारे सामने उपस्थित नहीं होता। बुद्धि के द्वारा हम उसको जानना चाहते हैं, परन्तु बुद्धि उसको विकृत कर डालता है। तथापि हमारी प्रज्ञा में है उस परमतत्व को उसके अखण्ड रूपमें जाननेकी प्रचेष्टा। "जान पड़ता है कि है, परंतु उसको जानने का उपाय नहीं है" इस प्रकार के ज्ञान को लेकर मनुष्य कैसे तृप्त रहेगा? प्रज्ञा हमें जो धारणा देती है, उसके प्रतिरूप किसी वास्तव पदार्थ का साक्षात्कार हम नहीं कर पाते। जान पड़ता है मानो आत्मा है, ईश्वर है, और कार्य-कारण के क्रम का कहीं अन्त नहीं है। परन्तु "मानो है" इस सिद्धान्त से हम किसी तत्व पर नहीं पहुंचते--बल्कि इससे सन्देह की ही उत्पत्ति होती है।

परन्तु यह सन्देहवाद काण्ट के दर्शन की अन्तिम बात नहीं है। ईश्वर, आत्मा, मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा--ये मनुष्य के नैतिक-बोध से जुड़े हुए हैं। यद्यपि प्रज्ञा हमें कोई निश्चित सिद्धान्त नहींदे सकती, परन्तु इससे निराशा का कोई कारण नहीं है। मनुष्य में संकल्प (Will) नामक एक और पदार्थ है और उसकी भी अपनी एक प्रकृति है। इस संकल्प-वृत्ति का ही काण्ट ने नाम दिया है, नैतिक बुद्धि (Practical Reason)। शुद्ध-बुद्धि के विचार-विश्लेषण में आलोचना का विषय था, बुद्धि के साथ बाह्यजगत का सम्बन्ध। नैतिक बोध के विचार-विश्लेषण में काण्ट ने दिखलाने की चेष्टा की कि बुद्धि (Understanding) के साथ संकल्प (Will) का क्या सम्बन्ध है।

नैतिक बोध के विचार-विश्लेषण को दो अंशों में भाग किया गया है। प्रथम अंश में काण्ट ने दिखलाया है कि मनुष्य में एक नैतिक नियम है। यह नैतिक नियम इन्द्रियों के द्वारा प्रभावित या परिचालित नहीं है,

यह प्रज्ञा द्वारा सृष्ट है। यही कारण है कि इसमें एक अनिवार्यता भी है। यह नैतिक नियम प्रत्येक मनुष्य में है और कोई भी इसका अतिक्रमण नहीं कर सकता (Categorical Imperative)। इसी नैतिक नियम के बीच से प्रज्ञा धारणा मात्र न होकर, एक वास्तविकता में, संकल्प के रूप में आत्मप्रकाश करती है। यह संकल्प साधारणतया शुद्ध नहीं रहता और इन्द्रिय के वश में हो जाता है और इसीलिये स्वार्थसिद्धि ही मनुष्य का एकमात्र काम्य हो जाता है। तब उसकी सार्वभौमिकता क्षुण्ण होती है, और वह विशेष (Particular) बन जाता है। इसलिये नैतिक बोध का काम है, संकल्प के इस प्रकार इन्द्रिय वशीभूत होने पर, उसको शुद्ध करना और उसकी सार्वभौमिकता को पुनः प्रतिष्ठित करना। शुद्ध संकल्प के द्वारा यदि कोई कार्य सम्पन्न हो तो वह उचित होगा ही। संकल्प-शुद्धि न होने पर ही न्याय-अन्याय का द्वन्द्व खड़ा हो जाता है। इसलिये काण्ट के अनुसार आकांक्षाहीन कर्तव्यबोध ही नीति की अन्तिम बात है। क्योंकि कर्तव्य और उचित को, हम कर्तव्य और उचित के रूप में ही स्वीकार करेंगे; क्यों यह उचित है, यह प्रश्न नहीं उठेगा, क्योंकि औचित्य ही इसकी प्रकृति है।

नैतिक बोध के विचार-विश्लेषण के द्वितीय अंश में काण्ट ने दिखलाया है कि नैतिक बोध में एक उद्देश्य भी है। यह उद्देश्य है, क्षुद्र या वृहत् असंख्य कल्याणों के पीछे जो परम कल्याण (Highest Good) है, उसकी प्राप्ति। परम कल्याण ही नैतिक बोध का चरम काम्य है। काण्ट के अनुसार यह परम कल्याण, श्रेष्ठ पुण्य (Greatest Virtue) और श्रेष्ठ सुख (Greatest Happiness) इन दोनों का समन्वय है। परन्तु मनुष्य में जिस प्रकार प्रज्ञा है, उसी प्रकार इन्द्रिय भी है। प्रज्ञा (Reason) शुद्ध

होने पर ही श्रेष्ठ पुण्य का लाभ सम्भव है। परन्तु साधारण अवस्था में प्रज्ञा इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त नहीं रहती। इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त प्रज्ञा का लाभ वहुकाल की साधना का फल है। प्रज्ञा शुद्धि समय-सापेक्ष है। एक क्रम परिणति के बीच ही यह सम्भव होता है। पुण्य का कारण सुख नहीं और सुख का कारण पुण्य नहीं; इन दोनों में कोई कार्य-कारण संबंध नहीं है। एक अनन्त क्रमपरिणति के मध्य से ही सुख और पुण्य का समन्वय सम्भव है। इस अनन्त क्रमपरिणति को यदि स्वीकार करना पड़े तो हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि आत्मा अमर है। क्योंकि अस्थायी, नश्वर वस्तु की अनन्त परिणति सम्भव नहीं। अमर होने के कारण ही आत्मा श्रेष्ठ पुण्य के लाभ का अधिकारी है। एक अनन्त काल की साधना से ही श्रेष्ठ पुण्य का लाभ हो सकता है।

दूसरी ओर सुख निर्भर है इच्छा की पूर्ति पर। इच्छा तो मन के अन्दर पैदा होती है, परन्तु इसका सम्बन्ध मन के बाहर किसी वस्तु से है। इस बाह्य वस्तु के द्वारा इच्छा की पूर्ति होती है। इसलिये सुख निर्भर है अन्तर और बाहर के संयोग पर। अन्तर और बाहर का यह संयोग यदि बाह्यान्तर के मिलन के रूप में सार्थक हो, तभी सुख होता है। बाह्यान्तर के इस मिलन को नैतिक और प्राकृतिक जगत का मिलन कहा जा सकता है। दो वस्तु विरोध का अतिक्रमण कर तभी सम्मिलित हो सकते हैं, जब उन दोनों के पीछे कोई मूल अवलम्बन हो, एक परम ऐक्य हो। नैतिक और प्राकृतिक जगत का मिलन इसलिये सम्भव है कि इनके पीछे एक मूल आश्रय है। यह परम आश्रय ही ईश्वर है।

इसलिये हमने देखा कि नैतिक नियम का अस्तित्व है, इसीलिये स्वाधीन

इच्छा नाम की कोई वस्तु सचमुच है; परम पुण्यका आदर्श होने के कारण ही, अमरत्व की धारणा सम्भव हो सकी है । परम सुख का आदर्श है, इसलिये ईश्वर भी सत्य है ।

रसबोध का विचार-विश्लेषण
(Critique of Judgment)

बुद्धि और नैतिक बोध के विश्लेषण से हमने देखा कि प्रथम के द्वारा ईश्वर, स्वाधीन इच्छा और अमरत्व के सम्बन्ध में हम निश्चय रूप से कुछ जान नहीं सकते, परन्तु जान पड़ता है कि मानो ये सम्भव हैं । द्वितीय के द्वारा हमने यह जाना कि हमारे नैतिक बोध की भित्ति के रूप में उनके अस्तित्व को स्वीकार करना होगा । बुद्धि और नैतिक बोध--मन के इन दोनों धर्मों की आलोचना करने के बाद, काण्ट ने अब यह दिखलाने की चेष्टा की कि मन का एक और पहलू है और हमें इसका भी विश्लेषण कर देखना होगा। यह है मन की अनुभव वृत्ति, रसबोध का पहलू । बुद्धि के विश्लेषण से हमें मिली प्राकृतिक नियम की अनिवार्यता, और नैतिक बोध के विश्लेषण से हमें मिली नैतिक जीवन की स्वतंत्रता। इसलिये प्राकृतिक जगत और नैतिक जगत के बीच एक स्पष्ट व्यवधान है । प्राकृतिक जगत के नियम और नैतिक जगत के नियमों में पार्थक्य है । परन्तु जो 'मैं' प्राकृतिक नियमों के अधीन है, वही 'मैं' नैतिक जगत में स्वाधीन है । इन दोनों 'मैं' के विरोध को रसबोध के विचार-विश्लेषण के द्वारा काण्ट ने दूर करने की चेष्टा की है ।

काण्ट के अनुसार रसबोध के बीच से हम प्रकृति में एक उद्देश्य का संधान करते हैं । इस उद्देश्य की प्राप्ति से तृप्ति मिलती है । इसलिये यह मन का

एक ही धर्म है। रसानुभूति बुद्धि भी नहीं और न नैतिक बोध ही है; यह मन का एक पृथक् धर्म है।

काण्ट के अनुसार उस सार्थक उद्देश्य के दो पहलू हैं—एक आत्मगत (Subjective), दूसरा वस्तुगत (Objective)। रसानुभूति का आत्मगत पहलू जिस वाक्य के द्वारा प्रकाशित होता है, उसको कहते हैं सौन्दर्यबोधक वाक्य (Aesthetic Judgment)। जिस वाक्य के द्वारा इसके वस्तुगत पहलू को प्रकाश प्राप्त होता है, उसको कहते हैं, उद्देश्यबोधक वाक्य (Teleological Judgment)।

सौन्दर्य बोधक वाक्य के विश्लेषण में सौन्दर्य और अपार्थिव महान (Sublime) से क्या बोध होता है, काण्ट ने इसकी आलोचना की है। काण्ट के अनुसार सौन्दर्य निर्भर है, हमारे मन की चारो सार्वभौम धारणाओं पर। गुण की दृष्टि से विचार करने पर हम देखेंगे कि सौन्दर्य हमें तृप्ति देता है, परंतु इस तृप्ति में कोई व्यक्तिगत कामना नहीं है, यह निस्पृह परितृप्ति है परन्तु सुख या कल्याण को प्राप्त कर हमें जो तृप्ति मिलती है, वह इस प्रकार निस्पृह नहीं है, उसके साथ हमारी कामनाओं का सम्बन्ध है। सुख या कल्याण से जो तृप्ति मिलती है, वह हमारा काम्य है, परन्तु सौन्दर्यजात जो तृप्ति है, बिना कामना के ही उसकी प्राप्ति हमें होती है। परिमाण की दृष्टि से सौन्दर्य केवल व्यक्ति-विशेष को ही तृप्त नहीं करता, वह सभी को तृप्त करता है। अर्थात् सौन्दर्य से जो आनन्द है, वह सार्वभौम है। जब एक चित्र को देखकर कोई उसे सुन्दर बताता है, तो वह यही आशा करता है कि कोई अन्य व्यक्ति भी उसे देखकर सुन्दर ही बतायेगा। परन्तु सर्वजन-ग्राह्य होने पर भी सौन्दर्य की अनुभूति वस्तुगत नहीं, बल्कि आत्मगत है।

सम्बन्ध की दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि मन सुन्दर वस्तुको सुन्दर के रूप में अवश्य ग्रहण करता है, परन्तु इसे ग्रहण करने में कोई विशेष उद्देश्य निहित नहीं होता। अर्थात् सौन्दर्य की प्रकृति ही ऐसी है कि मन उसे सहज ही ग्रहण कर लेगा। प्रकारों के बीच से देखने पर, जो सुन्दर है, वह मनुष्य को अवश्य तृप्त करेगा। सौन्दर्य की, इस तृप्त करने की क्षमता अनिवार्य है। इसलिये, काण्ट के अनुसार जो सुन्दर है, वह तृप्तिदायक है। यह तृप्ति सार्वभौम है, निस्पृह तथा प्रत्यय-निरपेक्ष है और अनिवार्य है। परन्तु सार्वभौमिकता रहनेपर भी सौन्दर्य वस्तुगत नहीं है, यह आत्मगत है, मनुष्य के मन की ही देन है।

जो सब्लाइम है, वह मन में श्रद्धाविस्मय के भाव का उद्रेक करता है। इसकी तुलना में सब कुछ क्षुद्र और साधारण जान पड़ता है। परन्तु सुन्दर के साथ अपार्थिव-महान् का पार्थक्य है। सौन्दर्य मन को शान्ति और स्थिरता देता है, परन्तु अपार्थिव-महान् (Sublime) मन को आलोड़ित करता है; मन को चंचल करता है। सुन्दर, शान्ति के बीच आनन्द की सृष्टि करता है। सब्लाइम यदि महत्तम हो तो प्राकृतिक जगत में वह नहीं मिल सकता, क्योंकि उस जगत में ऐसा कुछ नहीं है, जिसकी तुलना नहीं हो सकती। उस जगत में वृहत् से भी वृहत्तर है। सब्लाइम यदि वृहत्तम या महत्तम हो तो यही स्वीकार करना पड़ेगा कि वह अनन्त है। परन्तु असीम या अनन्त वहिर्प्रकृति में नहीं हो सकता, वह तो मन की ही एक धारणा है। इसलिये सब्लाइम या अपार्थिव-महान् बाह्य जगत में नहीं है, वह मनुष्य के अन्तर से ही बहिर्जगत में प्रतिफलित होता है।

उद्देश्यबोधक वाक्य के विश्लेषण के द्वारा काण्ट ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि मन के बाहर जो वस्तु है, उनमें परस्पर आदान-प्रदान का सम्बन्ध विद्यमान है। इस सम्बन्ध का क्या रूप है, उस पर विचार करना आवश्यक है। हो सकता है कि यह पारस्परिक सम्बन्ध केवल बाहर का ही सम्बन्ध हो, हो सकता है कि यह आभ्यन्तरीण सम्बन्ध भी हो। बाहर का सम्बन्ध वस्तुओं की पारस्परिक प्रयोजनीयता का ही प्रकाश है। परन्तु आभ्यन्तरीण सम्बन्ध (Internal Relation) की विशेषता यह है कि इससे यही प्रकाश पाता है कि वस्तु एक अंश भी है और पूर्ण भी है। शरीर के विभिन्न अंग-प्रत्यंग अपनी-अपनी विशेषता में पूर्ण हैं, तथापि ये शरीर के अंश हैं। उनका सम्बन्ध बाहर का सम्बन्ध नहीं है, बल्कि आभ्यन्तरीण सम्बन्ध है। इसलिये हम देखते हैं कि किसी उद्देश्य को सफल करने के लिये ही इस प्रकार के आभ्यन्तरीण सम्बन्ध का उद्भव हुआ है। कार्य-कारण विधि के द्वारा इसकी व्याख्या सम्भव नहीं; एकमात्र उद्देश्यबोध के नियम के द्वारा ही इसकी व्याख्या की जा सकती है।

प्राकृतिक कार्य-कारण का नियम और उद्देश्य बोध इन दोनों में जो विरोधिता जान पड़ती है, उसका कारण है पूर्ण तथा अंश की धारणाओं का यथार्थ अनुभव न कर सकना। काण्ट के अनुसार बुद्धि के द्वारा पूर्ण और अंश के सम्बन्ध को समझा नहीं जा सकता, और इसलिये उनके विरोध को भी दूर नहीं किया जा सकता। यदि अनुभूति के द्वारा समस्त वस्तुओं को उनके अखण्ड रूप में जाना जा सकता है, तभी यह विरोध दूर हो सकेगा।

परन्तु इस विषय में काण्ट ने और अधिक आलोचना नहीं की है।

पठनीय

काण्ट लिखितः—The Critique of Pure Reason—Translated by N. K. Smith.

The Critique of Practical Reason—Translated by T. K. Abbas.

The Critique of Judgment—Translated by J. E. Bernard.

Selections—Translated by J. Watson.

सहज-प्रवेशिकाः—Will Durant—The Story of Philosophy.

A. Schwegler—Handbook of the History of Philosophy.

A. Weber—History of Philosophy.

R. Das—A Handbook to Kant's Critique of Pure Reason.

N. A. Nikam—An Introduction to Kant's Critique of Pure Reason.

आलोचनात्मकः—E. Caird—The Critical Philosophy of Immanual Kant, 2 Vols.

H. A. Prichard—Kant's Theory of Knowledge.

James Ward—A Study of Kant.

N. K. Smith—A Commentary to Kant's Critique of Pure Reason.

A. D. Lindsay—Kant.

H. J. Paton—Kant's Metaphysic of Experience 2 Vols.

A. C. Ewing—Commentary on Kant's Critique of Pure Reason.

G. T. Whitney and D. F. Bowers (Editors)—The Heritage of Kant.

चौथा अध्याय

काण्ट के बाद

काण्ट की मृत्यु के बाद जर्मनी में उनके दर्शन का प्रभाव असामान्य रूप में दृष्ट हुआ। इसकी व्यापकता और नवीनता, इसकी गम्भीरता और नैतिक सचेतनता और सर्वोपरि इसके संस्कारमुक्त स्वाधीन विचार ने इसको शिक्षित और विचारशील व्यक्तियों के लिये ग्रहणीय किया। किसी और दर्शन ने समग्र देश को इस प्रकार आन्दोलित नहीं किया। कुछ ही दिनों में इस दर्शन को आश्रित कर कई एक दर्शन पीठों की स्थापना हुई और विभिन्न विश्वविद्यालयों में काण्टीय दर्शन के अनुरागी अध्यापकों की संख्या बढ़ चली। इसके फलस्वरूप विज्ञान, साहित्य, धर्म और नीति आदि सभी विषयों पर काण्ट के दर्शन का प्रभाव पड़ा। परन्तु इनमें से अधिकांश काण्ट के दर्शन के प्रचार में अथवा उसके त्रुटि-संशोधन में व्यस्त रहे। जिन्होंने काण्टीय विचारधारा को नये मार्ग पर सञ्चालित कर मौलिक दर्शन की रचना की, उनमें फिश्टे (Fichte) और हर्बर्ट (Herbart) प्रधान हैं। काण्टीय दर्शन के विरोधी समालोचक भी हुए जिनमें जेकबी (Jacobi) प्रधान हैं।

शुद्ध-बुद्धि के विचार-विश्लेषण में ईश्वर, स्वाधीन संकल्प और अमरता को ज्ञान के बाहर डालकर, काण्ट ने जो नैतिक बुद्धि के विचार विश्लेषण में पुन: इनको नीति के आश्रय के रूप में ग्रहण किया, इससे इनके सम्बन्ध में मनुष्य के मन में एक सन्देह रह ही जाता है। इसलिये, इस दृष्टिकोण से ज्ञान के सम्बन्ध में एक अनिश्चयता अन्त तक रह जाती है। शुद्ध-पदार्थ के

स्वरूप को जानने का कोई उपाय ही नहीं रह जाता। इस अनिश्चयता को दूर करने के लिये जेकबी (Jacobi) ने कहा कि बुद्धि के विश्लेषण के द्वारा हम ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकते, एकमात्र विश्वास के मार्ग पर ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। बुद्धि की चरम धारणा ईश्वर को हम प्रत्यक्ष का विषय नहीं बना सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष के वहिर्भूत रहना ही ईश्वर की प्रकृति है। बुद्धि के परे, इस चरम सत्ता को जानने के लिये एकमात्र अनुभूति का ही सहारा लिया जा सकता है। जेकबी के अनुसार, अनुभूति के सहारे, विश्वास के द्वारा जिसको जानना होगा, काण्ट ने उसे बुद्धि द्वारा जानने की चेष्टा कर भूल की है।

फिश्टे (Fichte, 1762-1814)

[जर्मनी के एक ग्राम में एक दरिद्र परिवार में फिश्टे का जन्म हुआ। बाल्यावस्था में, उनकी स्मृतिशक्ति से आकृष्ट होकर एक धनी व्यक्ति ने उनकी शिक्षा की व्यवस्था कर दी। कुछ वर्ष बाद उक्त पृष्ठपोषक की मृत्यु के बाद, अनेक अभावों के बीच से १८ वर्ष की अवस्था में फिश्टे जेना विश्वविद्यालय में भरती हुए। अर्थाभाव के कारण, बीच-बीच में उनको अपना अध्ययन बन्द रखना पड़ता। गृह-शिक्षक के काम से कुछ अर्थ सञ्चय कर वह पुनः अध्ययन करते। विश्वविद्यालय के अध्ययनकाल में जब दर्शन के प्रति उनका अनुराग हुआ तो वह प्रथम आकृष्ट हुए स्पिनोजा के दर्शन से। बाद को लाइपजिग नगर में उन्होंने काण्टीय दर्शन का अध्ययन और अध्यापन प्रारम्भ किया। कोनिग्सबर्ग नगर में जाकर फिश्टे ने काण्ट के साथ साक्षात् किया। युवक फिश्टे के प्रति विख्यात दार्शनिक अध्यापक काण्ट के कुछ आग्रह प्रकाश न करने के कारण

फिश्टे के हृदय को कुछ चोट पहुंची, परन्तु इससे वह निरुत्साह न हुए। कोनिग्सबर्ग नगर में रहकर सन् १७९१ ई० में काण्टीय दर्शन पद्धति पर धर्म के एक पहलू की व्याख्या कर उन्होंने एक पुस्तक (Critique of All Revelation) की रचना की। इस विषय पर काण्ट ने तब तक कुछ लिखा नहीं था। इस पुस्तिका को देखकर काण्ट अत्यन्त प्रसन्न हुए और इसके प्रकाशन की भी उन्होंने व्यवस्था की।

सन् १७९८ ई० में फिश्टे का विवाह हुआ और इसके दो वर्ष बाद जेना विश्वविद्यालय में वह अध्यापक नियुक्त हुए। इसके बादसे विभिन्न विषयों में उनके प्रबंध प्रकाशित होते रहे। उनकी प्रधान रचना है, "वैज्ञानिक ज्ञान की भित्ति" (Groundwork of All Scientific Knowledge)। इसी समय फिश्टे एक दार्शनिक पत्रिका के सम्पादक हुए। एक बार इस पत्रिका में प्रकाशित एक प्रबन्ध जनसाधारण के निकट धर्म-विरुद्ध प्रतीत होने के कारण एक प्रबल आन्दोलन हुआ। परिणामस्वरूप फिश्टे को जेना विश्वविद्यालय के अध्यापक का पद परित्याग कर बर्लिन चला जाना पड़ा। इसके बाद दस वर्ष तक नाना स्थान भ्रमण करने के बाद, अंत में सन् १८०५ ई० में फिश्टे बर्लिन में अध्यापक नियुक्त हुए। बर्लिन अवस्थान काल में, बर्लिन विश्वविद्यालय की स्थापना के लिये उन्होंने अथक चेष्टा की और सन् १८०९ ई० में विश्वविद्यालय की स्थापना के बाद वह दर्शन विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। जेना में उनके साथ योरोप के अनेक विख्यात मनीषियों से परिचय हुआ, जिनमें गैटे और दांते अन्यतम हैं। इसी समय फिश्टे ने अनेक पुस्तकों की भी रचना की। इनमें उन्होंने काण्टीय दर्शन की भित्ति पर मौलिक व्याख्या की है। वृद्ध काण्ट को यह व्याख्या पसन्द नहीं आई, परन्तु औरों ने

इसे ग्रहण किया। यह बात प्रायः स्वीकृत सी हो गई थी कि काण्टीय दर्शन के स्थान पर फिश्टे का नया दर्शन ही अपने अधिकार का विस्तार करेगा। नैपोलियन की फ्रांसीसी सेना बर्लिन अधिकार करने पर फिश्टे की लेखनी ने स्वदेश प्रेम की वाणी सुनाकर जर्मनी को जागृत रखा था और फ्रांसीसी सेना को जर्मनी से खदेड़ भगाने में समर्थ हुआ। इस युद्धकाल में ही कर्तव्य परायण देशप्रेमी दार्शनिक फिश्टे की मृत्यु हुई।]

फिश्टे के अनुसार काण्ट का दर्शन असम्पूर्ण है। ज्ञानतत्व में काण्ट ने बुद्धि की प्रकृति का विश्लेषण किया है। जब बाहर के शुद्ध पदार्थ के ऊपर बुद्धि की क्रिया होती है, तभी हम बुद्धि की प्रकृति और उसके विधान को जान पाते हैं। परन्तु बुद्धि के इन विधानों की उत्पत्ति कहां से हुई और किस पर वे आश्रित हैं, यह हम नहीं जानते। अर्थात् अनुभूति में जो प्रकाश प्राप्त करता है, काण्ट ने उसी को दिखलाया है, जिसके आश्रय से यह प्रकाश होती है, उसका जिक्र नहीं किया है। फिश्टे के अनुसार उस मूल आश्रय को ही जानना होगा। बुद्धि क्यों उक्त चारों धारणाओं के बीच से ही आत्म प्रकाश करता है, और अन्य किसी प्रकार से नहीं करता--इसका कारण दिखलाना होगा। केवल इनके उल्लेख से ही काम न चलेगा। दूसरी ओर काण्टीय ज्ञानतत्व में हम पाते हैं कि बाहर के शुद्ध पदार्थ के साथ बुद्धि के संयोग से हमारा परिचित जगत उठ खड़ा होता है। परन्तु वह शुद्ध पदार्थ कहां से आया, इस सम्बन्ध में काण्ट ने कुछ नहीं कहा है। काण्ट के ज्ञानतत्व में, ज्ञान का उपादान और उसका आकार, इन दोनों के बीच व्यवधान को दूर करने पर ही, मन की संवेदनग्राहिता और बुद्धि--इन दोनों के पीछे अवस्थित एक ही मूल आश्रय का पता चल जायगा। नैतिक बोध के विश्लेषण में भी

काण्ट ने जिस कर्तव्यबोध का उल्लेख किया है, फिश्टे के अनुसार, उसको भी मूलतत्व के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह मूलतत्व से प्रसूत एक सिद्धान्त मात्र है। हमारे नैतिक बोध और स्वाभाविक प्रवृत्तियों में जो विरोध है, केवल उसके उल्लेख से काम न चलेगा, उनका सम्बन्ध क्या है, इस पर भी विचार करना होगा। इसके अतिरिक्त यह भी लक्ष्य करने की बात है कि काण्ट ने दर्शन को खण्ड-खण्ड कर, उनका विश्लेषण किया है, दर्शन की अखण्ड मूलभित्ति का अनुसन्धान उन्होंने नहीं किया है। अतएव फिश्टे के मतानुसार काण्टीय दर्शन में बहुत कुछ है, जिनके समन्वय की आवश्यकता है, और उसमें जिनको स्वतःसिद्ध मान लिया गया है, उनके प्रमाण और व्याख्या की आवश्यकता है। फिश्टे के दर्शन में इस समन्वय और समाधान की चेष्टा ही की गई है।

फिश्टे के अनुसार यह सत्य है कि दर्शन का लक्षण वियोजन (Abstraction) है, परंतु यह साधारण वियोजन नहीं है। साधारण वियोजन मानसिक विश्लेषण मात्र है। दार्शनिक वियोजन इस प्रकार नहीं है। यह इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों का विश्लेषण नहीं है, यह अनुभव के उपादानों का सन्धान है। दर्शन अनुभूति के जन्म और क्रमपरिणति के अन्तर्निहित तथ्यों का इतिहास है। परन्तु अनुभव के बाहर जाकर अनुभव का विश्लेषण इसमें नहीं है। अनुभूति के अन्दर डूबकर उसके केन्द्र का अनुसन्धान करना ही दर्शन का काम है। अतएव फिश्टे के मतानुसार वस्तु रूप में हमारा जो इन्द्रियगोचर होता है, उसका अवलम्बन कर हम अनुभव के इस केन्द्र पर नहीं पहुंच सकते। परन्तु एक बार इस केन्द्र पर पहुंचने पर विभिन्न वस्तुओं की प्रकृति हमसे अज्ञात नहीं रहती। विभिन्न बिजली के यन्त्रों को हम देखते हैं, उनका

इस्तेमाल करते हैं; परन्तु उनके परिचय से हमें बिजली के मूलतत्व का ज्ञान नहीं प्राप्त होता। परन्तु यदि बिजली के मूलतत्व का हमें ज्ञान हो तो उन वस्तुओं की प्रकृति की जानकारी हो ही जाती है; क्योंकि वे उस मूलतत्व को ही विभिन्न रूप में प्रकाशित करते हैं। अनुभव के गहन प्रदेश में उसके केन्द्र का सन्धान जो दर्शन नहीं दे सकता, वह दर्शन नहीं, वह एक शुष्क मत-वाद मात्र है।

परन्तु अनुभव के केन्द्र का सन्धान किस प्रकार मिलेगा? फिश्टे ने कहा कि हमारी विचार-प्रक्रिया के बीच से ही इसके अस्तित्व को हम जान पाते हैं। हम चाहे जिस विषय पर विचार करें, उस विचार में ही, जो विचार करता है, उसका अस्तित्व भी प्रकाशित होता है। अर्थात् मेरे विचार में, विचारा-न्तर्गत वस्तु जिस प्रकार प्रकाशित होती है, उसी प्रकार 'मैं' भी प्रकाशित होता हूं। परंतु अपनी सत्ता को अलग कर हम किसी विषय पर विचार कर ही नहीं पाते, मेरे विचार के बीच से ही मेरी सत्ता प्रस्फुटित होती है, मेरे आत्मा (Ego) का प्रकाश होता है। पुनः यदि हम आत्मा का विचार करें, तो वह आत्मा के विचार का विषय होगा। अर्थात् आत्मा ही आत्मा का विचार करेगा। आत्मा एक ही साथ विषय और विषयी (Object and Subject) है। ज्ञाता और ज्ञेय, इन दोनों की एकात्मता में ही आत्मा का स्वरूप प्रकाशित होता है। अर्थात् प्रकाशित होना ही आत्मा की प्रकृति है। यह स्वयं--प्रकाश और प्रकाशस्वरूप है।

दूसरी बात यह है कि आत्मा के साथ ही प्रकाशित होती है इसके विप-रीत--अनात्मा। परन्तु आत्मा को आश्रित कर ही इस अनात्मा की सृष्टि है। आत्मा और अनात्मा दोनों ही एक आत्मा में से दो विरोधी रूप

में निकल आते हैं, क्योंकि आत्मा न होने से उसकी विरोधिता सम्भव नहीं। अतएव आत्मा के लिये ही अनात्मा की सृष्टि है।

तीसरी बात यह है कि आत्मा और अनात्मा दो विपरीत रूप में ही रह जायंगे, ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि परस्पर विपरीत होते हुए भी ये विच्छिन्न नहीं हैं। आत्मा मानो स्वयं अपने बीच एक अनात्मा की सृष्टि कर अपने को प्रकाशित करता है। यह मानो पृथक् कर ही मिलन की चेष्टा है, अथवा समन्वय के लिये ही इनको पृथक् करना है। अतएव दर्शन की तीन मुख्य बातें हैं--आत्मा स्वयं-प्रकाश है; इसका विपरीत अनात्मा का प्रकाश भी आत्मा से है; और इन परस्पर विपरीतों का समन्वय भी आत्मासे ही है। (Thesis, Antethesis, Synthesis)। आत्मा का यह जो प्रकाश है, यह है शुद्ध क्रिया (Pure Activity)। फिश्टे के मतानुसार, आत्मा की इस शुद्ध क्रिया से हमें तीन मनन रीति मिलते हैं--एकात्मता (Identity), विरोधिता (Contradiction), और पर्याप्त कारण (Law of Sufficient Reason)। अथवा इनको कहा जा सकता है सत्ता, निषेध और नियन्त्रण। परन्तु मौलिक रूप से ये शुद्ध क्रियारूपी आत्मा छोड़कर और कुछ नहीं हैं। आत्मा और आत्मा की क्रिया, इन दोनों में कोई पार्थक्य नहीं है। अर्थात् आत्मा एक पदार्थ है और उसकी क्रिया है, ऐसा नहीं है। क्रिया या प्रकाश में ही आत्मा की सत्ता है। आत्मा प्रकाशधर्मी है। इसलिये पहिले आत्मा है, उसके बाद उसकी क्रिया होती है, ऐसा नहीं हो सकता। यह नहीं कि आत्मा एक द्रव्य है और क्रिया उसका गुण है। इसलिये, प्रकाशधर्मी आत्मा को कहा गया है। शुद्ध-प्रकाश या शुद्ध-क्रिया (Pure Activity)।

इस शुद्ध क्रिया रूपी आत्मा के दो पहलुओं का विश्लेषण करना है। प्रथम आत्मा, अनात्मा के रूप में अपने को खंडित करती है; यह है ज्ञानवाचक (Cognitive)। द्वितीय आत्मा अपने को अनात्मा का नियन्त्रक बना लेती है, यह है संकल्पवाचक (Conative)।

ज्ञानवाचक आत्मा (Theoretical Ego)

आत्मा जब अनात्मा के रूप में अपने को खण्डित करती है, तब अनात्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर लेना पड़ता है और इसीलिये उसकी क्रियाशीलता में बाधा उत्पन्न होती है। पुनः हम देखते हैं कि अनात्मा की सृष्टि कर यह जो आत्मविरोध है, वही आत्मा की क्रिया है; इसलिये वह क्रियाशील ही है। अर्थात् आत्मा एक साथ द्रष्टा और स्रष्टा दोनों ही है। फिश्टे के अनुसार आत्मा और अनात्मा के इस सम्बन्ध से ही सार्विक धारणाओं की उत्पत्ति हुई है। अनात्मा के द्वारा आत्माव्याहत होती है, इसलिये यह विरोध का कारण है। दूसरी ओर आत्मा की प्रकाशमानता ही सब कुछ की सत्ता है, इसलिये आत्मा परम पदार्थ है। आत्मा और अनात्मा के विरोध को पार करने के लिये हमें यह स्वीकार करना होगा कि आत्मा के प्रकाश की मानो दो दिशाएं हैं—एक वहिर्मुखी, एक अंतर्मुखी। अपने वहिर्मुखी प्रकाश में आत्मा मानो बाहर अनन्त की ओर अपने को प्रसारित कर देती है, और अपने अंतर्मुखी प्रकाश में यह मानों अपने को अपने अन्दर संकुचित कर लेना चाहती है। आत्मा के प्रकाश में इस प्रसार और संकुचन के द्वन्द्व से ही विभिन्न विषयों (Presentations) का उद्भव होता है।

प्रथम सृष्टि है संवेदन (Sensation)। आत्मा अपने इस प्रकाश के सम्बन्ध में सचेतन न होने के कारण, जान पड़ता है कि यह मानों बाहरी तथ्य के रूप में उपस्थित हुआ है। इसके बाद यह संवेदन आत्मा के निकट पृथक् एक ज्ञेय वस्तु के रूप में उपस्थित होता है, और ज्ञाता और ज्ञेय के बीच विरोध की सृष्टि कर यह ज्ञाता अथवा आत्मा को खण्डित करता है, अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय के बीच द्वैतबुद्धि की सृष्टि करता है। यह हुआ दूसरा स्तर, प्रत्यक्ष (Direct Perception)। अब आत्मा के सामने बाहरी वस्तु की सृष्टि हुई। इसके बाद की अवस्था में आत्मा प्रत्यक्षीभूत वस्तु से वस्तु के प्रतिरूप की कल्पना कर लेती है। इस स्तर पर वास्तव और कल्पित वस्तु में पार्थक्य बोध का उदय होता है और मन की सार्विक धारणाएं तथा देश-कालबोध जागृत हो उठते हैं। प्रकाश के चतुर्थ स्तर पर बुद्धि का उदय होता है, जो प्रत्यक्ष के परिवर्तनशील तथ्यों को स्थिरीकृत कर प्रत्यय में (Concept) परिणत करने की चेष्टा करती है। पञ्चम स्तर पर है, वियोजन (Abstraction)। इस अवस्था में मानसिक विश्लेषण के द्वारा किसी विषय (Object) का निर्धारित करना (Judgment) सम्भव होता है।

वियोजन या निर्धारण के बाद एक और स्तर है। फिश्टे के अनुसार ज्ञान के इस छठे स्तर को प्रज्ञा (Reason) कहते हैं। इस प्रज्ञा के प्रभाव से ही ज्ञेय पदार्थ को वियोजित करना सम्भव होता है। परन्तु प्रज्ञा को वियोजित करना सम्भव नहीं। अर्थात् इस प्रज्ञा के कारण ही हम बुद्धि (Understanding) पर्यन्त सभी चीज को ज्ञेय पदार्थ या ज्ञान के विषय (Object) के रूप में देखते हैं। प्रज्ञा है, इसीलिये द्वैतज्ञान सम्भव है।

इसलिये प्रज्ञा को हम ज्ञान के विषय के रूप में प्राप्त नहीं कर सकते। यह विशुद्ध चैतन्य (Pure Consciousness) है। अभी तक ज्ञाता और ज्ञेय में जो द्वैतभाव का विरोध विद्यमान था, प्रज्ञा के स्तर पर उस विरोध का अस्तित्व नहीं रहता। उस समय आत्मा यह समझ पाती है कि यही विषय है और यही विषयी भी है, यहीं आश्रय है और आश्रयी भी यही है, यहीं आत्मा है और अनात्मा भी।

संकल्पवाचक आत्मा (Practical Ego)

उल्लिखित ज्ञान के विषय के स्तरभेद में हमने देखा किस प्रकार प्रकाश-स्वरूप आत्मा अपने प्रकाश के बीच विरोध और सीमा की सृष्टि कर जगत की रचना करता है। परन्तु एक प्रश्न अब भी रह जाता है, कि स्वकीय अन्तर्विरोध आया क्यों? आत्मा के प्रकाश में इस अन्तर्द्वन्द्व का कारण क्या है? फिश्टे ने कहा कि काण्ट के नैतिक बोध के विश्लेषण में ही इस अन्तर्द्वन्द्व का कारण मिलेगा। जो आत्मा अपने को खण्डित कर द्वैतज्ञान की सृष्टि करता है, वह ज्ञानवाचक इसीलिये है कि वह संकल्पवाचक होगा। अर्थात् ज्ञान का उद्देश्य है। ज्ञान की परिणति है संकल्प में। आत्मा के सम्मुख समस्त जगत जो वस्तुरूप में उपस्थित हुआ, उसका उद्देश्य है इस संकल्प को कार्य में परिणत करना। विचित्र वस्तु जगत के बीच से ही हमारा कर्तव्यबोध जागृत हो उठता है। गति ही जीवन का धर्म है, और कर्म के बीच ही इस गति का प्रकाश है। परन्तु यदि जगत न हो तो, विभिन्न वस्तुओं के घात-प्रतिघात का समावेश न हो, जिससे कर्म नहीं हो सकता। इन्द्रियगोचर इस जगत की सृष्टि इसीलिये हुई है, जिससे कर्म के बीच अपने नैतिक बोध को हम मूर्त कर

सकें। अर्थात् नैतिक बोध को आश्रित कर ही जगत हमारे निकट जगत के रूप में वर्तमान है। बाधा का अतिक्रमण करना ही कर्म का लक्षण है। इसलिये कर्म करने के पहिले, अतिक्रमण करने के लिये बाधा का अस्तित्व आवश्यक है। नैतिकबोध को मूर्त करने के लिये कर्म आवश्यक है, और कर्म को सम्भव करने के लिये बाधा आवश्यक है। इसलिये आत्मा को बाधा या विरोध के लिये ही जगत की सृष्टि करनी पड़ती है। विरोध का अतिक्रमण करने ही के लिये आत्मा विरोध की सृष्टि करती है। नीति जगत को रूप देने के लिये ही जगत की सृष्टि है। मुक्ति के लिये ही बन्धन है। नैतिक बोध के बीच ही मनुष्य-विशेष का अतिक्रमण कर हम मनुष्यत्व को प्राप्त करते हैं। जीव का अतिक्रमण कर हम आत्मा को प्राप्त करते हैं'।

फिश्टे के अनुसार, स्वतन्त्रता या आत्मनियन्त्रण ही वस्तु की सत्ता है। यही परम सत्य है। इसलिये स्वतन्त्रता को हम इन्द्रियग्राह्य वस्तु के रूप में नहीं पाते। स्वाधीनता का वास्तविक अर्थ है अपनी शक्ति से अपने को पूर्णतम बनाना। यह आत्मसृष्टि है। यह आत्मसृष्टि क्रम-परिणति है; इसलिये यह समय पर आश्रित है। समय बुद्धि की क्रिया द्वारा उत्पन्न है; इसलिये आत्मसृष्टि का मार्ग बुद्धि के बीच से है। अर्थात् बुद्धि, स्वतन्त्रता या आत्मसृष्टि के लाभ करने का उपाय मात्र है। एक और दृष्टि से कहा जा सकता है कि आत्मसृष्टि की गति के मार्ग में बुद्धि एक स्तर मात्र है।

आत्मसृष्टि या स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को बाह्यजगत के अन्य मनुष्यों के संस्पर्श में आना होगा। मनुष्य विशेषों के पारस्परिक सम्बन्ध से मनुष्य के अधिकारों (Rights) की सृष्टि होती है। अधिकार और कर्तव्य का पार्थक्य यह है कि अधिकार है बाह्य परिस्थिति के द्वारा अनि-

वार्यरूप से नियन्त्रित कर्म (External Necessity) और कर्तव्य है अंतर के द्वारा अनिवार्य रूप से नियंत्रित कर्म (Internal Necessity)। इसलिये कर्तव्य के बीच से ही स्वाधीनता रूप ग्रहण करती है।

ईश्वर के सम्बन्ध में भी फिश्टे का एक विशेष मत है। नैतिक जगत के बीच से ही हमने ईश्वर को स्वीकार किया है। नैतिक कर्म के बीच ही ईश्वर हमारे निकट प्रकाशित होते हैं। इस नैतिक जगत के प्रति हमारा पूर्ण विश्वास रहना नितान्त आवश्यक है। क्योंकि मनुष्य जीवन के बीच से जो नैतिक विधान निरन्तर आत्मप्रकाश करता है, वही तो ईश्वर है, वही सनातन है। अन्य ईश्वर से हमें कोई प्रयोजन नहीं है, और वह हमारी धारणा के भी अतीत हैं। पदार्थ के रूप में ईश्वर की धारणा नहीं की जा सकती। इस नैतिक विधान या ईश्वर के प्रति परिपूर्ण आस्था रखकर अपना कर्तव्य करते जाना ही धर्म है। अपने को इस सनातन नीति के विधान के अधीन रखने से ही मनुष्य को शाश्वत जीवन का सन्धान मिलेगा।

फिश्टे के दर्शन के प्रधान वक्तव्य विषयों की आलोचना ऊपर दी गई है। उपरोक्त आलोचना में हमने देखा कि काण्ट के दर्शन में जो शुद्ध पदार्थ अज्ञेय रूप में रह गया था और शुद्धाशुद्ध का जो द्वैतभाव अनतिक्रमणीय जान पड़ता था, फिश्टे ने उनको दूर किया। शुद्ध-अशुद्ध, या अन्तर-बाहर, ये वास्तव में दो नहीं, एक ही आत्मा है। ये आत्मा के प्रकाश के दो रूप हैं। उपमा के रूप में कहा जा सकता है कि द्वैत के रूप में अद्वैत अपनी उपलब्धि कर रहा है। पुनः आत्म-प्रकाश की स्वतन्त्रता के बीच से हम पाते हैं नीति के जगत को; वही हमारा ईश्वर है। इस आत्मा (Ego) और ईश्वर में कोई

पार्थक्य है या नहीं, और यदि है तो उनका रूप क्या है, इस सम्बन्ध में फिश्टे ने कुछ स्पष्ट नहीं कहा है ।

परन्तु फिश्टे के अन्त के लेखों में, अर्थात् बर्लिन अवस्थान के समय उनके दार्शनिक मतों में विशेष परिवर्तन हुआ । पहिले फिश्टे ने प्रकाशस्वरूप आत्मा को ही परमतत्व के रूप में ग्रहण किया था । अब उन्होंने कहा कि ईश्वर ही परम तत्व है । जिस ईश्वर को विश्व के मूल में नैतिक विधान के रूप में विद्यमान माना गया था, अब उन्हीं को कहा गया कि वह विश्व के सब कुछ के एकमात्र आश्रय हैं। फिश्टे ने कहा कि जब तक मनुष्य अपने 'अहं' को प्रधान बना रखेगा, तबतक ईश्वरतत्व उसके लिये अज्ञेय होगा । इस 'अहं' के सम्पूर्ण लोप के साथ-साथ ईश्वर का आविर्भाव होता है, तब यह बात समझ में आती है कि ईश्वर ही विश्व का सब कुछ है । ईश्वर छोड़ और कुछ नहीं है ।

समालोचकों ने यह मान लिया है कि फिश्टे के बाद के दर्शन में उनके पहिले के दर्शन की अवनति हुई है । पाश्चात्य दृष्टिकोण से यह मानना ही स्वाभाविक है । परंतु भारतीय दृष्टिकोण से विचार करने पर यही लगता है कि दार्शनिक की स्वाभाविक परिणति यही है। जिस परम तत्व को दार्शनिक ने प्रथम जीवन में विचार-बुद्धि के बीच प्राप्त किया, जीवन की गहरी खोज में, अन्तदृष्टि के मार्ग पर, उससे उसका घनिष्ठ परिचय हुआ । इस परिचय का इतिहास समालोचकों की दृष्टि से ओझल रह जाता है ।

शेलिंग (Fredrich Wilhelm Joseph Schelling, 1775-1854)

[लिओनवर्ग नगरी में सन् १७७५ ई० में फ्रेडरिक व्हिलहेल्म् जोसेफ शेलिंग का जन्म हुआ। वे एक अत्यन्त बुद्धिमान छात्र थे, स्वल्पावस्था में ही उन्होंने विविध दर्शन ग्रन्थों का पाठ किया था और दर्शन के विषय में कुछ निबन्ध भी उन्होंने लिखे थे। वह हेगेल के मित्र थे और १७ वर्ष की अवस्था में ही काण्टीय दर्शन का उन्होंने परिचय प्राप्त किया। इसी काल में टुबिगेन विश्वविद्यालय से वह एम० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। इसके बाद बैरन रीडसेल के शिक्षक के रूप में वह लाइपसिग शहर को चले गये। कुछ दिनों बाद फिश्टे के छात्र और सहकर्मी के रूप में येना नगर में उन्होंने निवास किया और फिश्टे के दर्शन का प्रभाव उनके विचारों पर काफी पड़ा। फिश्टे जब येना छोड़कर बर्लिन को चले गये तो शेलिंग वहां दर्शन के अध्यापक नियुक्त हुए। अब फिश्टे के प्रभाव से मुक्त होकर उनकी विचारधारा ने स्वतन्त्र मार्ग पकड़ा। हेगेल के साथ "Critical Journal of Philosophy" पत्रिका के सम्पादन का भार उन्होंने ग्रहण किया। अध्यापक होकर शेलिंग येना से ऊर्सबर्ग शहर को गये और सन् १८०७ ई० में विज्ञान परिषद् के सभ्य के रूप में म्युनिक को गये। म्युनिक शिल्प-परिषद् के भी वह पहिले सम्पादक और बाद को अध्यक्ष हुए। म्युनिक विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर शेलिंग वहां अध्यापक नियुक्त हुए। इस प्रकार कुछ वर्ष म्युनिक में बिताकर सन् १८५१ ई० में शेलिंग बर्लिन को आये और विविध विषयों पर उन्होंने

भाषण दिये। शेलिंग अपने उदार हृदय और लोकप्रिय स्वभाव के कारण सबके प्रिय थे। उस समय योरोपीय संस्कृति में रोमान्टिक भावधारा की जो बाढ़ आई थी, उसमें शेलिंग का प्रभाव भी काफी था। शेलिंग स्वयं रोमान्टिक भावनाओं से प्रभावित होने के कारण, उनकी दार्शनिक विचारधारा अविच्छिन्न नहीं थी। कई अवस्थाओं में इसमें नवीन परिवर्तन हुए। सन् १८५४ ई० में शेलिंग की मृत्यु हुई।]

फिश्टे ने कहा कि आत्मा से ही अनात्मा की सृष्टि है। शेलिंग के अनुसार यह कहना संगत नहीं कि आत्मा ही अनात्मा का स्रष्टा है। क्योंकि जिस प्रकार आत्मा को छोड़कर अनात्मा नहीं रह सकता, उसी प्रकार अनात्मा को छोड़ कर आत्मा भी नहीं रह सकता। फिश्टे का स्वयं यह मत है कि अनात्मा के प्रकाश के बीच से ही आत्मा, आत्मा है। इस प्रकार आत्मा जैसे अनात्मा का सृष्टिकारक है, उसी प्रकार अनात्मा भी आत्मा का सृष्टिकारक है। जब आत्मा और अनात्मा में एक ही प्रकार का सम्बन्ध है, तो हम आत्मा को परम (Absolute) नहीं मान सकते। जब यह अनात्मा को आश्रित किये हुए है, तो वह परम कैसे होगा। इसी कारण से अनात्मा भी परम नहीं हो सकता। क्योंकि यह आत्मा को आश्रित किये हुए है। आत्मा और अनात्मा परस्पराश्रयी हैं। इसलिये, शेलिंग के अनुसार, चूंकि आत्मा या अनात्मा, इनमें से कोई भी स्वयंसिद्ध नहीं है, इसलिये कोई भी 'परम' नहीं है।

अतएव, या तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि 'परम' नाम की कोई वस्तु नहीं है, नहीं तो आत्मा और अनात्मा, दोनों के परे जाकर, 'परम' का अन्वेषण करना पड़ेगा। शेलिंग ने कहा कि 'परम' नहीं है, ऐसा नहीं हो

सकता; परम है, और सब कारणों के एक मात्र कारण के रूप में वर्तमान है। इसलिये आत्मा ने अनात्मा अथवा जड़-जगत की सृष्टि की है, यह आत्मगत भाववाद (Subjective Idealism) जैसा सत्य नहीं है, उसी प्रकार यह भी सत्य नहीं है कि अनात्मा अथवा जड़ से आत्मा की सृष्टि हुई है, जो कि संवेदनवाद (Sensationalism) का सिद्धान्त है। आत्मा और अनात्मा, चित् और अचित्, दोनों एक आदि कारण से उद्भूत हैं।

अर्थात् शेलिंग के अनुसार एक परम कारण से, चित् और अचित्, आत्मा और अनात्मा दोनों की उत्पत्ति हुई है। चित् और अचित् ये उस परम कारण के दो समानान्तर (Parallel) प्रकाश हैं। परम कारण के इन दो तत्वों की आलोचना करना ही दर्शन का कार्य है। आत्म-तत्व भी जिस प्रकार तत्व है, अनात्मत-त्व भी उसी प्रकार तत्व है। फिश्टे ने केवल आत्म-तत्व की ही आलोचना की है। शेलिंग ने अनात्म-तत्व को भी एक तत्व के रूप में ग्रहण किया। इसलिये शेलिंग के अनुसार, यह जड़-जगत, आत्मा की सृष्टि नहीं है, इसकी निज की पृथक् सत्ता है। यह जड़-जगत आत्मा का विस्तार क्षेत्र है। इसलिये, चिन्तन के द्वारा हम सृष्टि नहीं करते, बल्कि पुनः सृष्टि (Reproduce) करते हैं।

शेलिंग के अनुसार, आत्मा और अनात्मा, दोनों का मूल एक ही है। इसलिये इनमें कोई विरोध नही हो सकता। जड़-जगत का विधान और बुद्धि का विधान, इन दोनों में मेल है। जो परमतत्व, जड़ प्रकृति के बीच से आत्मप्रकाश कर रहा है, वही परमतत्व बुद्धि के बीच भी आत्म प्रकाश करता है। यह परम तत्व स्पिनोजा के परम तत्व के अनुरूप ही है।

स्पिनोजा नें इसी को ईश्वर कहा है। परन्तु स्पिनोजा का अद्वैतवाद शेलिंग के दर्शन से भिन्न है।

बुद्धि (Thought) और जड़-प्रकृति (Nature), ये परमतत्व के समानान्तर प्रकाश हैं; इसलिये बुद्धि के प्रकाश में जिस प्रकार क्रिया (Thesis) प्रतिक्रिया (Anti-Thesis) और समन्वय (Synthesis) हैं, जड़ जगत की अभिव्यक्ति में भी उसी प्रकार वस्तुत्व (Materiality), आकार (form) और इन दोनों के समन्वय (Organised-Matter) हैं। बुद्धि के प्रकाश में जिस प्रकार उक्त तीनों क्रियाओं को पृथक् नहीं किया जा सकता, जड़ की अभिव्यक्ति में भी उसी प्रकार वस्तुत्व, आकार और इनके समन्वय को पृथक् अवस्थाओं में प्राप्त नहीं किया जा सकता। शेलिंग के अनुसार प्रकृति में सर्वत्र यह समन्वय मिलेगा, और इस समन्वय के बीच ही हमें प्राण का सन्धान मिलता है। प्रकृति के प्रत्येक अंश में प्राण का स्पन्दन हो रहा है। जिन वस्तुओं को हम प्राणहीन समझते हैं, वास्तव में वे प्राणहीन नहीं हैं। प्राण उनमें सुप्त है। जाग्रत होने पर वे उद्भिज-जगत में रूपान्तरित होंगे। पुनः यदि उद्भिज-जगत चेतनामय हो जाय तो वह प्राणी-जगत में परिणत होगा। जगत की सब वस्तुओं में एक गति और एक छन्द है। क्रिया, प्रतिक्रिया और समन्वय के बीच से ही इस गति को प्रेरणा मिल रही है।

मनोजगत में भी अनुरूप अभिव्यक्ति हो रही है। संवेदन (Sensation), प्रत्यक्ष (Perception), और वियोजन (Abstraction), ये तीनों हैं बुद्धि या ज्ञानवाचक आत्मा (Theoretical Ego) के धर्म। ज्ञानवाचक आत्मा की परिणति है, संकल्पवाचक आत्मा में (Practical

Ego); बुद्धि की परिणति है संकल्प (Will) में। अर्थात् बुद्धि संकल्प की अपरिणत अवस्था है। आत्म-सचेतन होने से बुद्धि संकल्प हो जाती है। बुद्धि और संकल्प दोनों का कार्य सृष्टि करना है। परन्तु बुद्धि की क्रियाशीलता में आत्म-सचेतनता न होने के कारण, उसमें स्वाधीनता नहीं है। संकल्प की क्रिया सज्ञान सृष्टि है, इसलिये उस सृष्टि में स्वतन्त्रता है।

जड़-जगत में जिस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया का द्वन्द्व है, मनोजगत में भी उसी प्रकार का द्वन्द्व है। बुद्धि जड़-जगत के तथ्यों को ले आती है और संकल्प उनका अतिक्रमण करती है। जड़ के बीच से जड़ को अतिक्रमण करने की यह नियत प्रचेष्टा मनोजगत में चल रही है। जड़-जगत में जिस शक्ति का प्रकाश होता है, आकर्षण, विकर्षण, आलोक, बिजली प्रभृति के आकार में, मनोजगत में उसी शक्ति का प्रकाश होता है, बुद्धि और संकल्प की प्रचेष्टा में। बुद्धि और संकल्प के विरोध में जिसका निर्माण होता है, वही मानव सभ्यता का इतिहास है। शेलिंग के अनुसार प्रकृति की अभिव्यक्ति में जिस प्रकार तीन स्तर हैं, मानव सभ्यता की अभिव्यक्ति में भी उसी प्रकार तीन स्तर हैं। प्रथम स्तर था अन्धविश्वास का, कुसंस्कार का युग; मनुष्य की बुद्धि उस समय आच्छन्न थी। दूसरे युग का आरम्भ हुआ रोमन संस्कृति से। इस द्वितीय स्तर पर मनुष्य ने अन्धविश्वास के आवरण को भेद कर बुद्धि को मोहमुक्त किया। तब मनुष्य ने अपने संकल्प का आश्रय लेकर नई सृष्टि के प्रति ध्यान दिया। अभी वह दूसरा युग चल रहा है। मानव सभ्यता का तीसरा युग भविष्य में आयेगा। उस युग में पहिले के दोनों युगों का समन्वय होगा। अर्थात् सभ्यता के अगले युग में जड़ और बुद्धि एक अपूर्व समन्वय में

मूर्त हो उठेंगे। वस्तु और भाव, इन दोनों के समन्वय से परमतत्व अधिकाधिक आत्मप्रकाश करता रहेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आतमा और अनात्मा, अथवा वस्तु और भाव इन दोनों के द्वन्द्व को पार करने पर ही परमतत्व का सन्धान प्राप्त होगा। परन्तु बुद्धि के मार्ग पर इस द्वैतवाद का अतिक्रमण न हो सकेगा; विषय और विषयी, ज्ञान और ज्ञाता, इन दोनों का द्वन्द्व रह ही जायगा। इसलिये शेलिंग ने कहा कि चरम समन्वय का मार्ग युक्ति का मार्ग नहीं है; वह अनुभव का मार्ग है, उपलब्धि का मार्ग है। शिल्पकला के बीच से ही यह उपलब्धि सम्भव है। इसलिये दर्शन की अपेक्षा शिल्पकला का स्थान और ऊँचा है। क्योंकि दर्शन ईश्वर की धारणा मात्र देता है, परन्तु कला प्रकाश में लाता है, स्वयं ईश्वर को।

पहिले ही कहा जा चुका है कि दर्शन के क्षेत्र में योरोप के रोमान्टिक युग के प्रतीक हैं शेलिंग। इसलिये रोमान्टिक प्रकृति का अनुयायी, उनका चिर-अभिसारी मन एक सुसम्बद्ध दार्शनिक मतवाद की स्थापना न कर सका। तथापि इसके विभिन्न, विचित्र प्रकाश के बीच से एक अद्वैतवाद का आभास ही मिलता है। अपने अन्तिम लेखों में उन्होंने परमतत्व को देखा है एक आदि-संकल्प के रूप में। जड़, चेतन, बुद्धि—यहां तक कि ईश्वर के बीच से भी वह संकल्प (Will) अपने को प्रकाशित करता है। इस संकल्प के बीच से ईश्वर अपने को पूर्ण करते हैं। जगत में जो अमंगल है, वह ईश्वर सृष्ट नहीं है; शेलिंग के अनुसार वह आदि संकल्प में (Primitive Will) ही था, जिसने प्रकाश प्राप्त किया। परन्तु यह मंगल को, शुभ को लाभ कराने के लिये ही जगत में है। यह परमतत्व के उद्देश्य को ही सफल करता है।

पठनीय

रोमान्टिक युग सम्बन्धी:—

J. Royace--Spirit of Modern Philosophy.

R. M. Wernaer--Romanticism and Romantic School in Germany.

G. H. Mead--Movements of Thought in the Nineteenth Century.

फिश्टे लिखित:—

Science of Knowledge--Translated into English by A. E. Kroeger.

Popular Works of Fichte--Translated by William Smith.

सहज-प्रवेशिका:--

Schwegler--Handbook of the History of Philosophy.

समालोचनात्मक:--

R. Adamson--Fichte.

C. C. Everett--Fichte's Science of Knowledge.

A. Seth Pringle-Pattison--From Kant to Hegel.

पांचवां अध्याय

हेगेल (George William Frederic Hegel 1770-1831)

[जर्मनी के उरटेमबुर्ग प्रदेश के स्टुटगार्ट नामक शहर के एक मध्यमवर्ग के शिक्षित परिवार में हेगेल का जन्म हुआ । शहर के स्कूल में ५ वर्ष की अवस्था में उनका शिक्षारम्भ हुआ । इस समय वह कोई असाधारण छात्र न थे । परन्तु पहिले से ही उनके चरित्र में धैर्य और अनुशासन के प्रति अनुराग दृष्ट होने लगा था । स्कूल की उच्च कक्षाओं में पढ़ते समय यूनानी काव्य और यूनानी कला ने उनके मन पर प्रभाव विस्तार किया था, और यूनानी कला को वह समन्वय का मूर्त प्रकाश मानते थे । इसके अतिरिक्त हर प्रकार के विज्ञान के प्रति उनका यथेष्ट अनुराग था । वह जब जो कुछ पढ़ते थे, उसका विश्लेषण कर रखते थे । अठारह वर्ष की अवस्था में हेगेल ने टूबिगेन विश्वविद्यालय में प्रवेश किया । उस समय वहां कोई ख्यातिप्राप्त अध्यापक न थे, यहां तक कि काण्टीय दर्शन भी ठीक से पढ़ाने वाला कोई न था । इसलिये हेगेल तथा अन्यान्य छात्रगण अपनी इच्छा के अनुसार किसी विषय का अध्ययन करते थे। उम्र में कम शेलिंग हेगेल के सहपाठी थे। शेलिंग एक मेधावी और तीक्ष्ण बुद्धि छात्र थे । हेगेल, शेलिंग तथा अन्य छात्रों ने मिलकर एक राजनीतिक परिषद् की स्थापना की और स्वाधीनता तथा

मानवता का प्रचार उत्साह के साथ करने लगे। विश्वविद्यालय के छात्र जीवन में हम हेगेल को पाते हैं, एक मित्रप्रेमी, उदार और सामाजिक व्यक्ति के रूप में। परन्तु हेगेल के चरित्र की विशेषता थी, गहराई और संयम। यही कारण है कि उनके मित्र उनको 'वृद्ध' कहकर विद्रुप करते थे। २३ वर्ष की अवस्था में हेगेल विश्वविद्यालय से निकले। इसके बाद स्विट्जरलैंड के बर्न शहर के एक गृह-शिक्षक के रूप में उन्होंने ६ वर्ष बिताये। बाहर से ये ६ वर्ष असार्थक जान पड़ने पर भी वास्तव में यही हेगेल के जीवन का बहुमूल्य समय था। इस समय शेलिंग की ख्याति चारों ओर फैल गई थी। हेगेल सन् १८०१ ई० में येना शहर में शिक्षक होकर आये और दार्शनिक मत प्रचार में वह शेलिंग के सहायक हुए। इसके कुछ वर्ष बाद शेलिंग के अर्सबर्ग चले जाने पर, येना में वह अध्यापक नियुक्त हुए। इस समय शेलिंग के दर्शन की समालोचना के बीच उन्होंने अपने दार्शनिक मत का निर्माण किया। इसके तुरन्त बाद ही येना शहर में युद्धविग्रह के कारण एक राजनीतिक उलट-फेर होने पर हेगेल अध्यापक पद से विच्युत हुए। दो वर्ष एक सम्पादक के रूप में और ६ वर्ष एक विद्यालय के प्रधान शिक्षक के रूप में कार्य कर उन्हें जीविका निर्वाह करना पड़ा। परन्तु इन सब असुविधाओं को भोग करते हुए भी दर्शन ग्रन्थ की रचना का काम बन्द न था। सन् १८१६ ई० में हेगेल अध्यापक होकर हाइडेलबर्ग शहर को गये और दो वर्ष बाद फिश्टे की मृत्यु के कारण बर्लिन के दर्शन के अध्यापक का पद खाली होने पर वहीं वह नियुक्त हुए। इस समय से ही मृत्यु काल पर्यन्त हेगेल ही जर्मनी के दार्शनिक जगत के अधिनायक थे। सन् १८३१ ई० में हेगेल की मृत्यु हुई। हेगेल के व्यक्तित्व में एक नवीनता थी। उनका स्वास्थ्य तो अच्छा नहीं था, परंतु उनकी इच्छा-

शक्ति प्रबल थी। एक अध्यापक की दृष्टि से वह सुवक्ता न थे, और अपनी वक्तृता के अधिकांश समय वह अपने को ही अपने निकट सुस्पष्ट करने की चेष्टा करते थे, श्रोता का ध्यान उन्हें न रहता। तथापि उनके शब्दों के पीछे अर्थ की गहराई और व्यापकता मनोवेश करने वाले श्रोताओं के मन को आकर्षित करती थी। एक ओर वह जैसे गहन दार्शनिक थे, दूसरी ओर वैसे ही मनुष्यों का संग-सुख उनको प्रिय था। गतिशील जीवन और गतिशीलता के मूल अर्थ के प्रति वह सचेत थे।]

काण्ट के दर्शन में जिसे शुद्ध पदार्थ (Thing-in-itself) और अज्ञेय कहा गया था, उसे फिश्टे ने दिखाया है कि यह आत्मा के सिवा कुछ नहीं है। आत्मा ही अनात्मा या बहिर्जगत का सृष्टि करके पुनः इसी के द्वारा अतिक्रम करके अपने ही में फिर आता है। लेकिन शेलिंग फिश्टे के इस आत्मा और अनात्मा के द्वन्द्व के पीछे इन दोनों के बीच में एक परम तत्व का अनुसन्धान किया था। यह परम तत्व चैतन्य और जड़ का मूल होने पर भी उससे अलग ही है। क्यों इसने चैतन्य और जड़ की सृष्टि की, और किस प्रकार यह सृष्टि हुई। शेलिंग का दर्शन इस विषय में हमें कुछ नहीं बताता।

हेगेल ने यह दिखलाने की चेष्टा की कि आत्मा और अनात्मा के पीछे एक मूल परम तत्व अवश्य है, परन्तु वह आत्मा और अनात्मा के बाहर कोई तृतीय पदार्थ नहीं है। इनकी अन्तर्निहित सत्ता में ही उसका अस्तित्व है। चैतन्य और जड़, ये परम तत्व के क्रमविकास हैं। हेगेल के अनुसार जो परम (Absolute) है, वह निष्क्रिय नहीं हो सकता। यह सक्रिय है। बुद्धि और जड़ के बीच से इसका प्रकाश हो रहा है, ऐसा नहीं है। यही

क्रमशः बुद्धि और जड़ के रूप में प्रकाशित हो रहा है। यह क्रमसृष्टि या अभिव्यक्ति ही स्वयं परम है। इसने गति और जीवन की सृष्टि की है, ऐसा नहीं, यह स्वयं गति और जीवन है। यह परम तत्व जगत का अतिक्रमण करके नहीं है, जगत के बीच ही है। यह अन्तर्निहित और ज्ञेय है।

गति या अभिव्यक्ति ही परम तत्व है। किन्तु इस गति में नियमानुवर्तिता है, एक उद्देश्य है। ये नियमानुवर्तिता और उद्देश्य बाहर की वस्तु नहीं हैं, परम की प्रकृति में ही ये हैं। मनुष्य की बुद्धि और बाहर के जड़-जगत एक ही नियम से परिचालित होते हैं, और वह नियम है चैतन्य। जिस उद्देश्य को लक्ष्यकर अभिव्यक्ति हो रही है, वह भी चैतन्य है। चैतन्य ही परम तत्व है। यह चैतन्य ही जड़ के बीच से, उद्भिज के बीच से और बाद को मनुष्य में व्यक्तित्व के रूप में व्यक्त होता है।

परन्तु काण्टीय दर्शन में जिसको मनुष्य मन का एक धर्म विशेष कहा गया है, वह यह नहीं है। जिस नियम का आश्रय लेकर हम वाह्य पदार्थों को जान पाते हैं, वह यह नहीं है। यह वह मूल तत्व है, जिसके बल पर पदार्थ की सृष्टि होती है। एक ही साथ यह आत्मगत (Subjective) भी है और वस्तुगत (Objective) भी। जिस प्रकार यह मनुष्य की बुद्धि के मूल में है, उसी प्रकार वाह्य अभिव्यक्ति के मूलमें भी यही है। इसकी सार्विक धारणाएं काण्ट की सार्विक धारणा से पृथक् हैं। केवल पदार्थ के विचार के मूल में ही ये हैं, ऐसा नहीं; पदार्थ की सत्ता में भी ये हैं। काण्ट की सार्विक धारणाएं वस्तुहीन आकार मात्र है; वाह्य पदार्थ आकर इनको पूर्ण करते हैं। परन्तु हेगेल की सार्विक धारणाएं मूर्त हैं; वे चैतन्य के मूर्त प्रकाश हैं।

इसलिये अति-विज्ञान (Metaphysics) के लिये सार्विक धार-

णाओं की प्रकृति और उनके पारस्परिक योगसूत्र के सम्बन्ध में विशेष आलोचना की आवश्यकता है। काण्ट ने सार्विक धारणाओं को पृथक् रूप में देखा अवश्य था, परन्तु उनके बीच एक योगसूत्र का सन्धान भी उन्होंने किया था। इसीलिये इनके अनुभव-निरपेक्ष विचार-विश्लेषण (Transcendental Deduction) के लिये भी वह सचेष्ट हुए। परन्तु हेगेल के अनुसार काण्ट की सार्विक धारणाएं मनुष्य मन के कुछ प्रत्ययों (Concept) का संग्रह मात्र है। सार्विक धारणाओं का वास्तविक रूप जाननें के लिये हमें देखना होगा कि किस प्रकार एक धारणा से दूसरी धारणा की सृष्टि होती है। यह तभी सम्भव होगा, जब कि हम अपनी इन्द्रियग्राह्य सब धारणाओं से अपने को पृथक् कर एकमात्र चैतन्य की निजी गति के आश्रय का ही अवलम्बन करें। चैतन्य आत्म-प्रकाश के बीच अग्रसर होता रहेगा और हम इसका अनुसरण करते रहेंगे। हेगेल के अनुसार चैतन्य को स्वतः प्रकाशित होते देना ही वास्तविक दार्शनिक पद्धति है। इसी का नाम आभ्यन्तरीय अभिव्यक्ति अथवा डायालेक्टिकल पद्धति (Dialectical Method) है।

शुद्ध प्रत्यय की क्रमसृष्टि की वैज्ञानिक आलोचना का नाम हेगेल ने दिया आन्विक्षिकी (Logic)। परन्तु जिस चैतन्य का विकास विचारक्रिया में है, उसी चैतन्य का विकास विचाराधीन पदार्थ में भी है। इसीलिये आन्विक्षिकी और अति-विज्ञान (Logics and Metaphysics) पृथक् नहीं है। चैतन्य ही यदि सब कुछ का मूल है, तो चैतन्य की वैज्ञानिक आलोचना ही दर्शन का विषय है। दर्शन सब विज्ञानों का विज्ञान है।

परम तत्व ही हेगेल के दर्शन का प्रधान विषय है। सम्पूर्ण विश्व इसी

की अभिव्यक्ति का परिणाम है । मनुष्य की बुद्धि के बीच यह विचार करता है और प्रकृति के विभिन्न वस्तुओं में यह विचारणीय विषय के रूप में प्रकट होता है । विषय और विषयी, दोनों में एक ही परमतत्व प्रकटित होता है । परमतत्व की यह अभिव्यक्ति विरोध समन्वय के बीच से अग्रसर होती रहती है; अपने को खण्डित करते-करते यह अपनी उपलब्धि करता रहता है। इसका प्रकाश होता है और तुरन्त बाद ही इसके विरोधी का भी प्रकाश होता है। परन्तु इनमें से कोई भी उपेक्षित होने को नहीं, इसलिये विरोधों का समन्वय साधन हो कर एक तीसरे प्रकाश की उत्पत्ति होती है । प्रथम के बाद विरोधी द्वितीय और उसके बाद समन्वयी तृतीय--यही हेगेलीय अभिव्यक्ति के त्रयी (Triad) है । हेगेल ने इनका नाम दिया है 'वाद' (Thesis), 'प्रतिवाद' (Antithesis), और 'समन्वय' (Synthesis) । परन्तु यह समन्वय अभिव्यक्ति की समाप्ति नहीं है । क्योंकि अन्तर्द्वन्द्व ही इस अभिव्यक्ति की प्रेरणा या गति है । इसलिये यह समन्वय चरम प्रशान्ति के रूप में स्थायी न होकर, पुनः अपने को खण्डित कर विरोध की सृष्टि करता है और एक नये समन्वय की आवश्यकता पड़ जाती है । इस प्रकार नाना विरोध और नाना समन्वय के बीच से परम तत्व अपने को व्यक्त करता रहता है । इस अभिव्यक्ति में, पुराने और नये में कोई व्यवधान नहीं है । नया पुराने का परित्याग नहीं करता है, बल्कि उसको अपने में ग्रहण कर लेता है । नूतन में पुरातन का नवजन्म होता है, उसको पूर्णतर प्रकाश प्राप्त होता है। विरोध-समन्वय के बीच यह अभिव्यक्ति ही हेगेल का 'द्वन्द्ववाद' (Dialectic) है।

हेगेल ने अपने दर्शन में इस डायलेक्टिक के मार्ग की व्याख्या की चेष्टा

की है। वाद, प्रतिवाद, समन्वय--अभिव्यक्ति के इस त्रयी का उल्लेख किया जा चुका है। इस प्रकार त्रयी तो असंख्य हैं, परन्तु व्यापक रूप से देखनें पर शुद्ध सार्वभौम प्रत्यय के बीच से परमतत्व के जिस प्राथमिक प्रकाश को हम पाते हैं, उसको 'वाद' कहा जा सकता है। इसको कहा जाता है शुद्ध प्रत्यय की अभिव्यक्ति (Logic as thesis)। अभिव्यक्ति के दूसरे स्तर पर प्रतिवाद के रूप में जड़ जगत की सृष्टि है (Nature as Antithesis)। मनुष्य की आत्मसचेतनता में प्राप्त धर्म, नीति, कला आदिकी सृष्टि, तीसरे स्तर पर, उपर्युक्त दोनों के समन्वय के रूप में होती है (Spirit as Synthesis)।

शुद्ध प्रत्यय-विज्ञान

(The Science of Pure Concepts or Logic)

शुद्ध प्रत्यय विज्ञान में हेगेल की आलोचना का प्रथम विषय है सत्ता (Being)। सत्ता की धारणा से ही हमारे सब ज्ञान का प्रारम्भ है। हमारी अन्य सब धारणाएं इस सत्ता की ही विशिष्ट प्रकाश हैं। सत्ता की धारणा को आश्रित कर ही इनका जन्म होता है। परन्तु सत्ता के प्रत्यय से अन्य प्रत्ययों की सृष्टि किस प्रकार होती है ? हेगेल के अनुसार सत्ता में ही एक ऐसी प्रेरणा या शक्ति है, जिसके कारण अन्य प्रत्ययों की उत्पत्ति संभव हो सकी है। यह प्रेरणा विरोध (Contradiction) की प्रेरणा है। सत्ता की धारणा सार्वभौमिक है। इससे अधिक व्यापक और कोई धारणा नहीं है। परन्तु यह बुद्धिग्राह्य तभी होता है, जब यह सीमाबद्ध अथवा विशिष्ट हो। मधुर, नीला, तरल आदि से किसी विशेष वस्तु का ही बोध

होता है। बुद्धि के द्वारा हम जिसे प्राप्त करते हैं, वह 'निर्विशेष' नहीं है, वह 'विशेष' कुछ है। निर्विशेष सत्ता का हमारे ज्ञान में कोई स्थान नहीं है; हमारे निकट उसका कोई अस्तित्व नहीं है। अतएव हम देखते हैं कि सत्ता, शुद्ध होने पर सत्ता नहीं रहती। इसलिये यह एक ही साथ सत्ता है भी और नहीं भी है। शुद्ध सत्ता होने पर वह होगी निराकार, शून्य, दूसरी ओर सत्ता का अभाव हो तो भी एक रिक्तता ही रहेगी। अतः सत्ता और असत्ता एक ही साथ हैं और इसीलिये विशेष के रूप में सत्ता की परिणति सम्भव हो सकी है। 'हैं' और 'नहीं हैं' इन दोनों के बीच से ही 'हो रहे हैं' सम्भव होता है। एक ही पेड़ विगत कल भी था और आज और बड़ा हो गया है; परन्तु विगत कल की स्थिति उस पेड़ के वृक्ष-जीवन की मुख्य बात नहीं है। यदि विगत कल की स्थिति से ही वह जकड़ा हुआ होता तो आज की यह परिणति सम्भव न हो पाती। विगत कल की स्थिति को उसने अस्वीकार किया है, इसीलिये उसकी यह परिणति सम्भव हो सकी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्म विरोध के बीच ही आत्मा की अभिव्यक्ति सम्भव है। 'इति' और 'नेति' इन दोनों के समन्वय का फल है 'परिणति'। परन्तु यही परिणति समाप्ति नहीं है। यह जब पुनः 'इति' के रूप में आत्म घोषणा करती है, तो विरोधी रूप 'नेति' की उत्पत्ति होती है, और दोनों एक नई परिणति में सार्थकता प्राप्त करते हैं। इस प्रकार नवीन परिणतियों के द्वारा परमतत्व की अभिव्यक्ति होती रहती है।

हेगेलीय शुद्ध प्रत्यय की सृष्टि में हम देखते हैं, पुनःपुनः आविर्भाव और तिरोभाव के बीच से, विरोध की, चरम समन्वय तक पहुंचने की प्रेरणा। 'हैं' और 'नहीं' को एक साथ बांधकर, हेगेल ने न्यायशास्त्र के 'अविरोध के

नियम' (Law of Non-Contradiction) को एक नये रूप में देखा है। जब कोई 'विशेष' हमारे ज्ञान के समक्ष उपस्थित होता है, तो जो पहिले 'विशेष' नहीं था, उसको 'ना' करके ही आता है। निर्विशेष का निषेध कर ही 'विशेष' की उत्पत्ति होती है। विरोध केवल मनुष्य के बुद्धि-जात ज्ञान का धर्म है, ऐसा नहीं। विरोध वस्तु का भी धर्म है। हेगेल के अनुसार बुद्धि और वस्तु इन दोनों को पृथक् करने के कारण ही दर्शन में समस्याओं की सृष्टि हुई है, और अन्त तक सन्देहवाद ने मनुष्य को हताश किया है। किन्तु यदि इन दोनों को हम पृथक् करके न देखें, और यह स्वीकार कर लें कि बुद्धि के आत्मविकास का ही फल वस्तु है, तथा जगत और वस्तु की आत्मचेतना ही बुद्धि है, तो हमारी अनेक समस्याओं का समाधान हो जाय।

ऊपर हमने देखा कि 'सत्ता' किस प्रकार 'परिणति' में रूपान्तरित होती है। सत्ता की इस परिणति का अर्थ है अपने को सीमाबद्ध करना, खण्डित करना। अर्थात् अनन्त अपने को सान्त कर रहा है। अपने को शान्त कर अनंत की यह जो परिणति है, इसको कहा जाता है 'विशेष' (Individual) "विशेष" है अनन्त और शान्त का मिलन। सीमित और असीम को पृथक् नहीं किया जा सकता। जो सीमाबद्ध है, उसका अन्त है, इसीलिये वह शान्त है। इसलिये यह ख्याल करना स्वाभाविक है कि सीमा को पार करने पर असीम है। परन्तु इससे असीम का असीमत्व नहीं रहता, इस पार की सीमा ही उसको शान्त कर देती है। हेगेल के अनुसार अनन्त की अभिव्यक्ति ही शान्त है। अर्थात् अनन्त जब अपने को मूर्त रूप में प्रकाश करता है, तब हम शान्त को पाते हैं। जो "हो सकता है" वह अनन्त है, जो "हुआ है" वह शान्त

है। निर्विशेष अनन्त जब सीमा के बीच सार्थकता प्राप्त करता है, तभी उसको कहा जाता है 'विशेष' (Individual)।

शुद्ध प्रत्यय विज्ञान (Logic) के प्रथम अंश में जिन सार्विक धारणाओं (Categories) की उत्पत्ति की आलोचना हेगेल ने की है, वे आपेक्षिकता वाचक नहीं हैं। सत्ता (Being), गुण (Quality), परिमाण (Quantity) आदि धारणाएं आपेक्षिक (Relative) नहीं हैं। इसके बाद के अंश में हेगेल ने जिन सार्विक धारणाओं की बात कही है, वे हमारे मन में एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु के सम्बन्ध को ला देती हैं। जैसे वस्तु का सार या वस्तुत्व और उसका वाह्यरूप (Essence and Appearance), शक्ति और उसका प्रकाश (Force and its Expression), कारण और कार्य--इत्यादि। शुद्ध प्रत्यय विज्ञान के तीसरे अंश में वर्णित सार्विक धारणाएं, यथा चरम उद्देश्य (Final Cause), परस्पर सम्बन्ध युक्त ऐक्य (Organic Unity) आदि, वस्तु के साथ मन के सम्बन्ध को प्रकाशित करती हैं। व्यापक रूप से देखने पर यह जान पड़ेगा कि शुद्ध प्रत्यय विज्ञान (Science of Logic) में हेगेल ने जो दिखलाना चाहा है, वह यह है कि परमतत्व, सर्वप्रथम हमारे ज्ञान में जिस रूप में उपस्थित होता है, वह है वस्तु की सत्ता--अन्य वस्तुओं से सम्बन्धरहित उसका अपना अस्तित्व। अभिव्यक्ति इन वस्तुओं को परस्पर सम्बन्ध युक्त कर और इनको सार्वभौमिक नियमों के अधीन कर इनके गहरे अर्थ को प्रकट करती है। अन्त में यह जाना जाता है कि ये वस्तु स्वयं सम्पूर्ण नहीं हैं, ये ज्ञेय पदार्थ और ज्ञाता के साथ सम्बन्ध युक्त हैं। प्रथम स्तर का ज्ञान है साधारण का ज्ञान (Commonsense

Knowledge)। इस ज्ञान में साधारण व्यक्ति जगत की वस्तुओं को पृथक्-पृथक् रूप में देखता है। इस दृष्टि से जगत असंख्य वस्तुओं की समष्टिमात्र है। इसके बाद की अभिव्यक्ति में वैज्ञानिक ज्ञान (Scientific Knowledge) का उदय होता है। तब हम वस्तुओं को पृथक् रूप में न देखकर, उनके पीछे उस व्यापकतर नियम को देखने की चेष्टा करते हैं, जिनको आश्रित कर उनका अस्तित्व सम्भव हो सका है। परन्तु यह विज्ञान की दृष्टि भी असम्पूर्ण है। दृष्टि और अधिक व्यापक तथा गहरी होने पर यह दीख पड़ेगा कि परस्पर-सम्बन्ध-युक्त जड़ जगत का ज्ञान ही ज्ञान का अन्त नहीं है। विज्ञान ज्ञेय पदार्थ का ही सम्वाद रखता है, ज्ञाता के सम्बन्ध में यह अज्ञ है। परन्तु ज्ञाता तो विश्व के बाहर नहीं है; इसलिये विश्व को पूर्णरूप से जानने के लिये ज्ञाता को भी जानना होगा। इसलिये दृष्टि को व्यापक और गहरी करने के लिये जड़ और चैतन्य इन दोनों जगत के सम्बन्ध में जानना होगा। यही दर्शन की दृष्टि है। साधारण ज्ञान के पीछे जो सत्य निहित है, वही वैज्ञानिक का ज्ञान है, और वैज्ञानिक ज्ञान जिस सत्य पर आश्रित है, वह है दार्शनिक का ज्ञान। साधारण व्यक्ति ने देखा एक फूल, वैज्ञानिक ने देखा, यह केवल फूल नहीं, और कुछ भी है। उसके साथ उसने देखा मिट्टी के रस का योग, सूर्यालोक का योग और वायु का संस्पर्श। दार्शनिक ने देखा कि फूल मिट्टी-आलोक वायु ही फूल की अन्तिम बात नहीं है, वह और कुछ भी है। उसका सत्य दृष्टि और द्रष्टा इन दोनों का मिलन है। इस प्रकार चैतन्य की अभिव्यक्ति भी पूर्ण तर और मूर्त होकर सार्थकता प्राप्त करती रहती है। हेगेल के अनुसार परमतत्व न सम्बन्धविहीन वस्तु विशेष में ही है, और न पारस्परिक सम्बन्ध-

युक्त वस्तु में ही। सब सम्बन्धों के मूल में जो सार्वभौम सम्बन्ध है और जो विशेष होकर अपने को प्रकाशित करता है, और फिर भी इस बहु-प्रकाश में जिसकी सार्वभौमिकता क्षुण्ण नहीं होती है——वही परमतत्व है।

प्रकृति-तत्त्व (Philosophy of Nature)

शुद्ध प्रत्यय विज्ञान में हेगेल ने दिखलाया है परमतत्व का अमूर्त (Abstract) धारणा के रूप में प्रकाश। इसके विरोध (Antithesis) के रूप में परमतत्व किस प्रकार अपने को बहिर्जगत में प्रकाशित करता है, उसकी आलोचना उन्होंने प्रकृति-तत्व (Philosophy of Nature) में की है।

जड़ पदार्थ, उद्भिज, जन्तु और मनुष्य——इन सबको लेकर प्रकृति है। यह प्रकृति परम की ही अभिव्यक्ति है। प्रथम अभिव्यक्ति है जड़ (Matter) और देश (Space)। जड़ और देश इनमें जो स्वाभाविक विरोध या द्वन्द्व है (अर्थात् देश है और नहीं भी है, जड़पदार्थ, द्रव्य है और नहीं भी है) उसका समन्वय हुआ है गति (Motion) में। इस गति के फलस्वरूप ही सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी आदि की सृष्टि हुई है। विशिष्ट वस्तु के रूप में ये ही प्रकृति की प्रथम सृष्टि हैं। 'विशेष' होकर व्यक्त होने की चेष्टा ही माध्याकर्षण शक्ति के बीच से आत्म प्रकाश करती है। शुद्ध प्रत्यय विज्ञान में परिमाण एक प्रत्ययमात्र था, जो कि प्रकृति की सृष्टि में वस्तु के बीच प्रकाशित हुआ।

इसके बाद की अभिव्यक्ति में जड़ से ही उद्भिज जगत की सृष्टि हुई। इस बार अभिव्यक्ति केवल परिमाणवाचक न रहकर गुणवाचक भी हुई।

परिमाण के बीच से जो प्रकाश है, उसमें केवल बाह्य परिवर्तन घटित होता है। गुणगत परिवर्तन है वस्तु की वस्तुसत्ता में परिवर्तन, वह आकृतिगत भेदमात्र नहीं हैं। वह वस्तुसत्ता का रूपान्तर है। जड़ केवल जड़ नहीं है, इसी से जड़ से उद्भिज की सृष्टि हो सकती है। उद्भिज केवल उद्भिज नहीं है, इसी से उद्भिज से व्यक्त होता है जीव-जगत। जीव-जगत के विभिन्न जीवों के बीच से यह अभिव्यक्ति अग्रसर होती रहती है, और अन्त में मनुष्य की सृष्टि में इसके पूर्ण प्रकाश की सम्भावना होती है। अचेतन से चेतन और चेतन से आत्मचेतन--परमतत्व की अभिव्यक्ति के ये स्तर हैं। आत्मचेतन के स्तर पर परमतत्व मानो अपने को पुनः प्राप्त करता है, उसकी आत्मोपलब्धि होती है।

आत्मचेतना की अभिव्यक्ति (Philosophy of Mind)

जीव जगत की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है मनुष्य। आत्मचेतना और स्वतंत्रता ने ही मनुष्य को अन्य जीवों से पृथक् और श्रेष्ठ बनाया है। परन्तु चैतन्य के स्तर पर भी अभिव्यक्ति के नियम का व्यतिक्रम नहीं हुआ है। मनुष्य की संस्कृति और सभ्यता में भी हम इसीलिये एक क्रम परिणति का इतिहास पाते हैं। आदिम काल में मनुष्य की न आत्मचेतना थी और न स्वतन्त्रता। सहजात प्रवृत्ति और पाशविक प्रेरणा उसके जीवन के नियन्त्रक थे। इसके फलस्वरूप, व्यक्तिगत जीवन की सुख-सुविधा ही मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य था। परन्तु जितना ही बुद्धि का विकास होने लगा, मनुष्य ने यह समझना सीखा कि दूसरे मनुष्य भी उसके समकक्ष हैं और उनको भी सुख-सुविधा का उतना ही प्रयोजन है, जितना कि उसको। औरों की स्वतन्त्रता को इस प्रकार स्वीकार

कर उसने अपनी अखण्ड स्वतन्त्रता की सीमा का निर्देश किया । मनुष्य के व्यक्ति-मन से समाज-मन ने जन्म ग्रहण किया ।

समाज-मन (Objective Mind) ने अन्ध सहजात-प्रवृत्तियों को समाज विधानके द्वारा नियन्त्रित कर आदिम मानव को सभ्यतर किया । समाज-मन का प्रथम प्रकाश है, मनुष्यके अपने अधिकारों की धारणा में । मनुष्य ने समझा कि सब मनुष्योंको स्वाधीनता का अधिकार है। इस स्वाधीनता के अधिकार को स्वीकार करने के कारण ही मनुष्य व्यक्ति बना है। जिसको आश्रित कर व्यक्तित्व की परिणति तथा प्रकाश संभव है, वह है सम्पत्ति (Property) । प्रत्येक व्यक्ति की स्वाधीनता है, इसीलिये सम्पत्ति पर भी उसका अधिकार है, इस सम्पत्ति के दान और ग्रहण का भी उसे अधिकार है । इस दान और ग्रहण के अधिकार की भित्ति पर ही शासन-तन्त्र का उद्भव हुआ है ।

हमने यह देखा कि एक की स्वाधीन इच्छा के साथ दूसरे की स्वाधीन इच्छा के विरोध के परिणामस्वरूप समाज-मन की सृष्टि होती है । इसके बाद मानव-सभ्यता के इतिहास में एक और विरोध आया । वह था व्यक्ति-मन और समाज-मन का द्वन्द्व । व्यक्तिगत इच्छा और सामाजिक इच्छा के संघर्ष का यह परिणाम हुआ कि मनुष्य की चेतना में नैतिकबोध और उचित-अनुचित का ज्ञान जागृत हुए । व्यक्ति-मन और समाज-मन का विरोध चिरकालीन नहीं हो सकता, इनका समन्वय अनिवार्य है । यह समन्वय जो बाह्य जगत का नियम था, वह अन्तर्जगत के नियम में रूपान्तरित हुआ । अर्थात् समाज-मन ने, जिसका कार्य व्यक्ति विशेष का नहीं, बल्कि समूह का कल्याण है, मनुष्य को यह जना दिया कि एकमात्र सार्वभौमिक शुभ के बीच

से ही व्यक्तिगत शुभ को प्राप्त किया जा सकता है। इस नैतिकबोध के आश्रय से परिवार (Family), समाज और शासनतन्त्र जीवित रहते हैं।

हेगेल का कहना है कि जो परमतत्व डायलेक्टिक के नियम से शुद्ध प्रत्यय विज्ञान की सृष्टि करता है, वही अधिक मूर्त रूप में बाह्य जगत के रूप में प्रकाशित होता है। तब यह प्रत्यय से पदार्थ में रूपान्तरित हो जाता है। वही एक ही परमतत्व मानव सभ्यता के इतिहास में विभिन्न घटनाओं के बीच राज्यों के उत्थान पतन में आत्म प्रकाश करता है। केवल मानव-मन की सार्वभौम धारणाओं अथवा जगत के जड़-उद्भिज-प्राणीवाचक पदार्थों के बीच से ही नहीं, बल्कि मानव संस्कृति के इतिहास के बीच से भी एक ही आत्मचेतना का क्रमप्रकाश जारी है। राज्यों के ध्वंस-निर्माण का इतिहास अथवा मानव सभ्यता का इतिहास, मूलतः यह आत्म-चेतना का क्रमविकास है। ध्वंस और निर्माण के बीच से आत्मचेतनारूपी परमतत्व अपने को अक्षुण्ण रूप में प्रकाशित करता चलता है।

किन्तु मनुष्य का यह सभ्य राजनैतिक जीवन ही उसकी आत्मचेतना का पूर्णतम विकास नहीं है। क्योंकि केवल राजनीतिक जीवन से ही मनुष्य पूर्ण सुख प्राप्त नहीं करता। इसलिये और आगे बढ़ना होगा। परंतु पहिले ही कहा जा चुका है कि हेगेल के अनुसार परमतत्व की अभिव्यक्ति में जो पुरातन या अतिक्रान्त है, वह बिलकुल परित्यक्त नहीं है, नूतन के बीच वह नव-जन्म लाभ करता है। पुरातन को ग्रहण कर ही नवीन जीवित रहता है। जड़-जगत को आश्रित कर ही उद्भिज जगत और जीव जगत का विकास संभव होता है। उसी प्रकार राजनीतिक जीवन को आश्रित कर ही मनुष्य आत्मचेतना की पूर्ण परिणति को प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति-जीवन अपनी आत्मकेन्द्रिक

सीमा का अतिक्रमण कर, समाज के राजनीतिक जीवन में अपनी परिणति का सन्धान करता है। परन्तु व्यक्ति-जीवन, बहु जीवन में अपनी सार्थकता का अनुसन्धान करने पर भी और आंशिक रूप में उसे प्राप्त करने पर भी, इस स्तर पर अपनी चरम सार्थकता का लाभ नहीं कर पाता। चरम सार्थकता का लाभ करने के लिये, आत्मचेतना की पूर्ण परिणति को सम्भव करने के लिये, मनुष्य को वहां जाना होगा, जहां उसकी स्वाधीनता में कोई अन्तराय नहीं है। कोई विरोध नहीं है। यह अक्षुण्ण स्वतन्त्रता का जगत है कला, धर्म और दर्शन। मनुष्य के मन को बाह्यजगत से पुनः अन्तर्जगत को लौटना होगा। इस अन्तर्जगत में मनुष्य को सन्धान करना होगा ईश्वर, सुन्दर और सत्य को। इनके बीच से ही मनुष्य अपनी पूर्ण आत्मचेतना में परमतत्व की उपलब्धि करेगा।

कला के बीच से ही मनुष्य बाह्य जगत के विरोध पर विजय प्राप्त करता है अथवा उसका अतिक्रमण करता है। कला के बीच से ही मनुष्य का अन्तर अनन्त का स्पर्श प्राप्त करता है। कला को आश्रित कर मनुष्य जैसे विरोध के परे जाने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार धर्म जीवन के बीच से भी वह विरोध से मुक्ति का सन्धान करता है। वस्तुतः विरोध के बीच से ही धर्म जीवन का आरम्भ होती है। परन्तु हेगेल के अनुसार कला या धर्म में जो सार्थकता प्राप्त होती है, वह पूर्णतम नहीं है। क्योंकि वह कल्पना और आवेग पर ही आश्रित होती है। उनके अनुसार मनुष्य की पूर्णतम सार्थकता है दर्शन में; दर्शन में जिस सत्य की उपलब्धि होती है, वही पूर्ण आत्मचेतना (Absolute Mind) है।

पठनीय

हेगेल लिखित:—(अंग्रेजी में अनूदित)

Phenomenology of Mind--J. B. Baillie.

Logic and Philosophy of Mind—William Wallace.

Philosophy of Religion--Speirs and Sanderson

Philosophy of History--J. Sibree.

Selections—Edited by J. Loewenberg.

सहज-प्रवेशिका:--

Weber--History of Philosophy.

E. Caird--Hegel.

J. Royace--Spirit of Modern Philosophy.

आलोचनात्मक:--

W. E. Stace--The Philosophy of Hegel.

J. G. Hibben--Hegel's Logic.

J. B. Baillie--Hegel's Logic.

J. E McTaggart--A Conmentary on Hegel's Logic. Studies in the Hegelian Dialectic.

B. Croce--What is Living and What is Dead in the Philosophy of Hegel,

हरबर्ट (Johann Friedrich Herbert, 1776-1841)

हेगेलीय दर्शन का प्रभाव असाधारण होने और दूर-दूर तक फैलने के बावजूद कुछ दार्शनिकों ने काण्टीय विचारधारा का ही अनुसरण किया। इनमें से मुख्य थे कोनिग्सबर्ग और गटिन्जेन के अध्यापक हरबर्ट।

[सन् १७७६ ई० में हरबर्ट का जन्म हुआ। काण्ट के दर्शन ने पहिले से ही उनको आकृष्ट किया था। १८ वर्ष की अवस्था में येना विश्वविद्यालय में उन्होंने फिश्टे के निकट अध्ययन किया था, और २६ वर्ष की अवस्था में उसी विश्वविद्यालय में वह अध्यापक नियुक्त हुए। येना विश्वविद्यालय से, सन् १८०९ ई० में हरबर्ट, काण्ट अध्यापक होकर कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय को चले गये। काण्ट के बाद जर्मनी के दार्शनिक जगत में भाववाद (Idealism) का प्रसार होने लगा था। हरबर्ट इस भाववाद के विरोध में खड़े हुए, और अपने स्वतन्त्र ढंग से वास्तववाद का प्रचार करने लगे। सन् १८४१ ई० में हरबर्ट की मृत्यु हुई।]

हरबर्ट हेगेलीय मत को ग्रहण नहीं कर सके। जड़-जगत की विभिन्न वस्तुएं चैतन्य के ही प्रकाश हैं, यह उनको असम्भव जान पड़ा। उनके अनुसार जड़ का अस्तित्व चैतन्य पर आश्रित नहीं हो सकता। वह चैतन्य निरपेक्ष, स्वाधीन है। जड़ जगत की सृष्टि करना चैतन्य का काम नहीं है, चैतन्य का काम है जड़ जगत के स्वरूप को अवगत होना। इसलिये हरबर्ट के मतानुसार, जगत को हम जिस रूप में पाते हैं, उसी रूप में उसे ग्रहण कर,

उसकी व्याख्या करना, यह दर्शन का काम है। वैज्ञानिक तथ्यों को स्वीकार न करने से दर्शन केवल एक काल्पनिक गवेषणा में परिणत होगी। जिन धारणाओं या प्रत्ययों की भित्ति पर विभिन्न विज्ञान प्रतिष्ठित हैं, उनका विश्लेषण और उनकी व्याख्या करना ही दर्शन का काम है।

हरबर्ट के अनुसार, विरोध या द्वन्द्व की व्याख्या करने की चेष्टा दर्शन ने युग-युगान्त से की है। किसी के अनुसार विरोध की समस्या का समाधान नहीं है, किसी के अनुसार यही कारण है कि दर्शन सत्य को नहीं जान सकता। हेगेल के अनुसार विरोध या द्वन्द्व ही दर्शन का मूलतत्व है। परन्तु इनमें से कोई भी समस्या का समाधान नहीं है।

सत्ता (Being) शब्द से जिसका बोध होता है, हरबर्ट के अनुसार, वह न निषेधात्मक है और न सीमाबद्ध ही, और वह अविभाज्य है। परिमाण द्वारा, गुण द्वारा, अथवा देश काल के बीच से इसकी धारणा नहीं की जा सकती। परंतु यह चैतन्य निरपेक्ष है, और स्पिनोजा के परम पदार्थ की भांति गुणातीत होने पर भी अद्वैत नहीं है। हरबर्ट की धारणा है कि असंख्य सत्ताओं को लेकर ही यह विश्व संगठित है। परम पदार्थ, परम (Absolute) होने पर भी असंख्य है। ऐसा असम्भव नहीं, क्योंकि ये परम पदार्थ या परम सत्ताएं (Absolute Beings) देश काल के अधीन नहीं है––इसलिये ये एक दूसरे के द्वारा खण्डित नहीं हैं। जिसका आकार है, उसकी सीमा है और वही आपेक्षिक है। परन्तु जिसका आकार नहीं है, वह अनन्त तथा परम है, इसी कारण से हरबर्ट के अनुसार परम पदार्थ असंख्य सत्ता मात्र है। अर्थात् परम होने से ही वह एक होगा, ऐसी बात नहीं है। ये परम सत्ताएं केवल हैं; कहां हैं; कब हैं, किस प्रकार हैं––ये प्रश्न अवान्तर हैं। ये कोरे

अस्तित्व मात्र हैं। ये बहु होकर भी लाइबनिट्स के चेतन-परमाणु (Monads) से भिन्न हैं। चेतन-परमाणु गुण विशिष्ट हैं, उनकी चेतनाशक्ति हैं, उनका परिवर्तन है, उनकी सम्भावना है। परन्तु हरबर्ट के परम पदार्थ का कोई गुण नहीं है। उनके सम्बन्ध में केवल यह कहा जायगा कि वे हैं। उनका गुण नहीं है, इसलिये वे इन्द्रियग्राह्य भी नहीं हैं। इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में ही हम यह प्रश्न करते हैं कि वस्तु के साथ गुण का क्या सम्बन्ध है। परन्तु हरबर्ट का परम पदार्थ गुणहीन है, इसलिये वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है। अतएव उनके सम्बन्ध में उक्त प्रश्न अवान्तर है। कार्य-कारण विधि भी उसी कारण से केवल इन्द्रियग्राह्य जगत में ही सम्भव है—क्योंकि वहां एक वस्तु दूसरे पर आश्रित है। हरबर्ट की 'सत्ता' पदार्थ परम और स्वयं-सिद्ध है; इसलिये कार्य-कारण के अधीन नहीं है। परिवर्तन के सम्बन्ध में भी वही बात है। अतएव कार्य-कारण-विधि, परिवर्तन आदि परम पदार्थ से उत्पन्न नहीं हो सकते। असंख्य परम पदार्थों के विभिन्न सम्बन्धों से ही उनकी सृष्टि है। परिवर्तन पदार्थ का नहीं होता, केवल सम्बन्धों का होता है।

परन्तु जो परम (Absolute) है, उसमें सम्बन्ध कहां से आया? देश (Space) के घेरे में आने से ही ऐसा सम्भव है। इसलिये हरबर्ट ने कहा कि देश इन्द्रियग्राह्य नहीं बल्कि बुद्धिग्राह्य है। बुद्धिग्राह्य है, इसीलिये एक ही स्थान पर दो पदार्थों का अवस्थान असम्भव नहीं। जड़ नहीं है, सीलिये परम पदार्थ में अन्तर्प्रवेश (Interpenetrability) और पारस्परिक सम्बन्ध सम्भव है।

चैतन्य भी ऐसी एक सत्ता है। इसका एक मात्र कार्य अपने अस्तित्व को

अक्षुण्ण रखना है। विभिन्न वस्तुओं के संस्पर्श से विभिन्न प्रकार की क्रिया घटित होती है। इसलिये असंख्य प्रत्यक्षों की उत्पत्ति होती है। विभिन्न चेतन-सत्ताओं के सम्बन्धों के फलस्वरूप हमारे मन की उत्पत्ति होती है। इसलिये मानसिक उपलब्धि बाह्य है, वह सत्ता का स्वरूप नहीं है, वह सम्बन्धजात है। सब सम्बन्धों से मुक्त होने पर, ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध न रहने पर, विचार, अनुभव, इच्छा आदि कुछ न रहेंगे। हरबर्ट के अनुसार मनोजगत के नियम और जड़जगत के नियम एक ही हैं।

ऊपर आलोचित हरबर्ट के दर्शन में हम देखते हैं कि मन के बाहर परम-पदार्थ को उन्होंने स्वीकार किया है, और असंख्य परम पदार्थों को भी स्वीकार किया है। इसलिये उनके दर्शन में वास्तववाद और अनेकवाद (Realism and Pluralism) दोनों ही हैं। हरबर्ट ने जिस प्रकार दार्शनिक समस्याओं के समाधान की चेष्टा की है, उसमें नाना प्रकार के विरोध सहज ही दिखलाई पड़ते हैं। परन्तु साधारण ज्ञान की दृष्टि तथा कल्पना को मिश्रित कर हरबर्ट ने एक और बहु की समस्या की जिस रूप में आलोचना की है, वह कृत्रिम है। जगह-जगह अन्तर्दृष्टि का परिचय देने पर भी अधिकांश क्षेत्र में उन्होंने अनुमान का आश्रय लिया है। उनकी सत्ता (Being) गणित की संख्या की भांति प्राणहीन हैं। इनको इन्द्रियग्राह्य जगत के बाहर निर्लिप्त रखकर भी उन्होंने इनको प्रत्यक्ष जगत में घसीट लाकर व्याख्या करने की चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त शुद्ध सत्ता को असंख्य कर उन्होंने उसके शुद्धत्व को क्षुण्ण किया है।

हेगेलीय दर्शन का प्रभाव

हेगेल की मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों में मतभेद दिखलाई पड़ा। परमतत्व और मनुष्य में उसका प्रकाश, इन दोनों में पार्थक्य है या नहीं, ईश्वर के अवतार स्वयं ईसामसीह और मनुष्य में उनका प्रकाश इन दोनों में क्या पार्थक्य है; व्यक्तिगत रूप से मनुष्य अमर है अथवा केवल एक परम सत्ता ही अमर है--इत्यादि नाना प्रकार के प्रश्नों की बुनियाद पर मतभेद की सृष्टि हुई। अर्थात् धर्म और दर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध को आश्रित कर ही, विभिन्न मतों का उद्भव हुआ। इनमें दो दलों की उत्पत्ति हुई। जो प्रवीण थे और जो ईसाई धर्म और हेगेलीय दर्शन के बीच विरोध नहीं लाना चाहते थे, उनको दक्षिणपन्थी कहा जाता है और परिवर्तन के पक्षपाती इनके विरोधियों को वामपक्षी हेगेलीय कहा जाता है। हेगेलीय दर्शन में मनुष्य-मन के पहिले ही प्रकृति को स्वीकार किया गया है, इसलिये वामपक्षी हेगेलियों के अनुसार मनुष्य प्रकृति से ही उत्पन्न है। जड़वाद और निरीश्वरवाद की ओर ही उनकी स्वाभाविक प्रवणता है।

वामपक्षी हेगेलियों में स्ट्रस (David Friedrich Strauss 1808-1874), फयेरबाक (Ludwig Feuerbach 1804-1872) और मार्क्स (Karl Marx 1818-1883), इन तीन के नाम विशेष उल्लेख योग्य हैं। स्ट्रस ने ख्रिष्ट जीवनी लिखकर समाज में एक आन्दोलन की सृष्टि कर दी थी। उनके अनुसार इन्जील में वर्णित अधिकांश घटनाएं पुराण कथा हैं अथवा अज्ञात रूप में मानव-मन से कविता के आकार में निकल पड़ी हैं। फयेरबाक ने और आगे बढ़कर यह दिखाने की चेष्टा की, कि

धर्म मतों की उत्पत्ति मनोविज्ञान सम्मत है। मनुष्य-मन की आशा, आशंका, अभीप्सा से ही धर्म की उत्पत्ति है। मनुष्य के आकांक्षित आदर्श से ही ईश्वर का जन्म हुआ है। मनुष्य पूर्णरूप से जड़ से ही उत्पन्न है, यह स्वीकार न करते हुए भी, फयेरबाक का झुकाव जड़वाद की ओर ही था।

फयेरबाक के मतवाद से परिचय प्राप्त करने के नाते, मार्क्स हेगेलीय दर्शन से भी परिचित हुए। मार्क्स फयेरबाक से भी अधिक नवीन पन्थी हैं। उन्होंने धर्म (Religion) को मनुष्य के जीवन से एकदम निकाल दिया। क्योंकि उनके अनुसार धर्म मनुष्य का कल्याण नहीं कर सकता, बल्कि क्षति ही करता है। वर्तमान जीवन को तुच्छ कर, एक काल्पनिक परलोक की सृष्टि कर और अलौकिक प्रभाव को स्वीकार कर धर्म ने मनुष्य को बुद्धिहीन किया है। इस बुद्धिहीनता के फलस्वरूप कुछ मुट्ठी भर धनी औरों का शोषण कर आत्म पोषण करते हैं। धर्म की मादकता में मनुष्य अपनी न्याय-पूर्ण मांगों को भूल बैठा है, और अपने वर्तमान कष्टमय जीवन को भगवान का दान मान कर सन्तुष्ट है। इसका अर्थ यह है कि अधिकांश मनुष्यों की मनोवृत्ति वैज्ञानिक नहीं है, और उनका नैतिक बोध भी जागृत नहीं है। मार्क्स ने हेगेलीय डायालेक्टिक को ग्रहण किया है, लेकिन दूसरे अर्थ में। उनके निकट डायालेक्टिक् चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि जड़ की अभिव्यक्ति (Dialectical Materialism) है। मानव-सभ्यता के इतिहास में जो घटनाएं घटित होती हैं, उनके पीछे कोई अलौकिक शक्ति अथवा चैतन्य का प्रभाव नहीं है। वह केवल भौतिक (Material) तथा अर्थनैतिक (Economic) शक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया के फल हैं। दुनिया में एक श्रेणी अपने सुख-सुविधा के लिये अन्यों को वंचित

करती आई है। इस प्रकार सभ्यता के इतिहास में हम पाते हैं दास प्रथा, जमींदारी प्रथा और धनी सम्प्रदाय। डायालेक्टिक् के नियम के अनुसार, इसके बाद आयेगा, श्रमिक सम्प्रदाय द्वारा राष्ट्र का शासन। उसके भी बाद आयेगा श्रेणीहीन समाज (Classless Society)। इस आदर्श समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति न होगी, आवश्यकता के अनुसार सबको वस्तुएं प्राप्त होंगी, और सामर्थ्य के अनुसार प्रत्येक कार्य करेगा।

उन्नीसवीं शताब्दि के अधिकांश जर्मन दार्शनिकों ने हेगेल के प्रभाव को स्वीकार किया था। इनमें से कुछ ऐसे थे, जिनकी ख्याति उग्र तथा अभिनव मतवाद के प्रचार के कारण विख्यात नहीं हुई। इनमें से अर्डमान जेलर, कुनो फिशर, श्वेग्लेर, व्हिन्डेलबांड आदि दर्शन के इतिहास लिखकर प्रसिद्ध हुए। इन्होंने हेगेलीय दर्शन से प्रेरणा प्राप्त की थी और जर्मनी की दार्शनिक विचारधारा को अनेक दिशाओं में पुष्ट किया था।

उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में, कुछ संस्कृत तथा परिवर्तित होकर, हेगेलीय दर्शन ने इंगलैंड और अमेरिका में प्रतिष्ठा प्राप्त की। इसको कहा जाता है, नव-हेगेलवाद (Neo-Hegelianism)। बीसवीं शताब्दि के दूसरे दशक तक इस धारा का प्राधान्य था। नव-हेगेलियों में एडवर्ड केयर्ड, जॉन केयर्ड, ग्रीन, ब्रैडले, बोसांकेट, जेम्स सेथ तथा प्रिंगल पैटिसन के नाम अंग्रेजों में उल्लेख योग्य हैं। अमरिकनों में हैरिस, मारिस, राएस, पामर तथा क्रेटन के नाम उल्लेख योग्य हैं। कनाडा के जान वाटसन भी नव-हेगेलियों में से एक हैं। जर्मनी के अलावा इटली में नव-हेगेलियों में क्रोचे तथा जेन्टिले (Benedetto Croce, Giovanni Gentile) ने ख्याति प्राप्त की थी।

शोपेनहावर (Arthur Schopenhauer 1788-1860)

[सन् १७८८ ई० में डानजिग नगर में एक व्यवसायी के घर शोपेनहावर का जन्म हुआ। ५ वर्ष की उम्र में उनके पिता सबको लेकर हामबुर्ग नगर में निवास करने लगे। शोपेनहावर को उनके पिता ने व्यवसाय कार्य की उपयुक्त शिक्षा दी थी। परन्तु सन् १८०५ ई० में, पिता की मृत्यु के बाद शोपेनहावर ने उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये गटिनजेन और बाद में बर्लिन विश्वविद्यालय में योगदान किया। शोपेनहावर का जीवन जननी के स्नेह से वञ्चित था। उनकी माता भावप्रवण थी और समसामयिक रोमान्टिक धारा की एक विख्यात उपन्यास लेखिका। स्वामी की मृत्यु के बाद, वह वाइमार नगर में, अपने पुरुष मित्रों के साथ, स्वतन्त्र रूप से रहने लगीं। शोपेनहावर को यह असह्य हुआ, और जननी के साथ उन्होंने सब सम्बन्ध त्याग किया। शोपेनहावर के चरित्र में जो स्पर्श-कातर मन और आत्माभिमान का परिचय मिलता है, वह उनकी माता की ही देन है। सन् १८१३ ई० में शोपेनहावर ने "यथोपयुक्त कारण के चार मूलसूत्र" (The Fourfold Root of the Sufficient Reason) नामक अपने ग्रन्थ का प्रकाशन किया। यह उनके आचार्य उपाधि के लिये गवेषणा का विषय था। सन् १८१८ ई० में उनकी मुख्य रचना "संकल्प और भावरूप में जगत" (The World as Will and Idea) प्रकाशित हुई। इनमें से किसी भी पुस्तक ने काफी दिन तक किसी की दृष्टि आकर्षित नहीं की। इसके दो वर्ष बाद बर्लिन विश्वविद्यालय में उन्होंने योगदान किया और वहां

१२ वर्ष तक वह अध्यापन करते रहे। अध्यापक रूप में भी उनकी कोई ख्याति नहीं हुई। उस समय हेगेल ख्याति की शिखर पर थे। शोपेनहावर ने हेगेल तथा अन्य दार्शनिकों की तीव्र तथा अवज्ञापूर्ण समालोचना करने लगे। अन्त में कुढ़ कर, अध्यापक का काम छोड़ कर वह फ्रांकफोर्ट को चले गये। शेष जीवन उन्होंने वहीं बिताया। फ्रांकफोर्ट चले आने के कुछ समय बाद शोपेनहावर की रचनाओं ने लोगों को आकृष्ट किया। शोपेनहावर दुःखवादी दार्शनिक हैं। मातृस्नेह से वञ्चित जीवन की शुष्कता, आदर्शभ्रष्टा जननी के व्यवहार से एक तीखापन और उनका अपना उग्र आत्माभिमान—इन तीनों के मिश्रण से दुःखवादिता का उद्भव स्वाभाविक जान पड़ता है। शोपेनहावर ने विवाह नहीं किया। होटल के दो कमरों में उन्होंने अपना निःसंग जीवन बिताया। उनके जीवन के अन्तिम भाग में उनकी रचना को ख्याति मिली, और देश-विदेश से लोग उनके दर्शन को आने लगे। पहिले के दार्शनिक और विचारशील व्यक्तियों ने यूरोप को जिस आशा की वाणी से प्राणवन्त किया था, वह जब मनुष्य के दुःखदारिद्रय और प्राणहीनता से निरर्थक होने लगी, तभी निराशा और दुःखवाद के दर्शन ने मनुष्य के मन को आकृष्ट किया। ७० वीं वर्षगांठ पर विश्व के विभिन्न प्रान्तों से शोपेनहावर की सम्बर्धना की गई। इसके दो वर्ष बाद सन् १८६० ई० में उनकी मृत्यु हुई।]

काण्ट के दर्शन के कुछ अंश को शोपेनहावर ने मान लिया था। उनके अनुसार जगत मनुष्य-मन की धारणा से ही उत्पन्न है। इन्द्रिय तथा बुद्धिगोचर जो जगत है, वह दृश्यमान जगत ज्ञाता की ही सृष्टि है। परन्तु हमारे इस परिचित जगत के पीछे एक जगत है। मानव-मन के संगठन के

के अनुसार वह जगत विकृत होकर इस दृश्यमान जगत में रूपान्तरित हो जाता है। दृश्यमान जगत का अस्तित्व मनुष्य के अनुभव पर निर्भर है। परन्तु वह जगत अनुभव-निरपेक्ष है।

हमारा मन ही हमको बतला देता है कि दृश्यमान जगत के पीछे एक जगत है। इसी को काण्ट ने कहा है, पदार्थ का स्वरूप (thing-in-itself) अथवा शुद्ध पदार्थ। काण्ट ने इस शुद्ध पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार किया है, परन्तु इसको अज्ञेय माना है। मनुष्य को जो ज्ञात है, वह उसके मन का ही सृष्ट दृश्यमान जगत (Phenomenal world) है। शोपेनहावर के मतानुसार यह सत्य है कि ज्ञाता अपने बाहर नहीं जा सकता और पदार्थ के स्वरूप को जान नहीं सकता। परन्तु यह भी सत्य है कि वहिर्जगत के अस्तित्व को हमें किसी न किसी प्रकार से स्वीकार करना पड़ता है। मनुष्य केवल ज्ञाता नहीं है, इसी से ज्ञेय को जान पाता है। मनुष्य एक ही साथ ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी है। वह स्वयं ज्ञाता है, परन्तु जगत के विभिन्न पदार्थों में वह भी एक पदार्थ के रूप में ज्ञेय है। ज्ञाता ही ज्ञेय--है,--इससे शोपेनहावर इस सिद्धान्त पर उपनीत हुए कि ज्ञेय पदार्थ और ज्ञाता का स्वरूप एक ही है। अर्थात् पृथ्वी की विभिन्न वस्तुओं में जो तत्व है, जो इन सब वस्तुओं को जान रहे हैं अथवा जो ज्ञाता है, उनमें भी वही तत्व है।

वह मूलतत्व जो ज्ञाता और ज्ञेय दोनों में वर्तमान है, उसका स्वरूप क्या है? देकार्ते, स्पिनोजा, लाइबनिट्स और हेगेल आदि के मत में यह है बुद्धि या चैतन्य। लाइबनिट्स के विश्व के सब पदार्थों में चेतना का सन्धान मिला; हेगेल ने इस चैतन्यशक्ति को ही विश्व के मूलतत्व के रूप में ग्रहण

किया। परन्तु शोपेनहावर ने कहा कि यह मूलतत्व बुद्धि या चैतन्य नहीं है, यह है इच्छाशक्ति या संकलपशक्ति (Will)। चैतन्य या बुद्धि इसी का एक प्रकाश-विशेष है। जो मूलतत्व हम में है, वही तत्व अन्य पदार्थों में भी है। ज्ञाता और ज्ञेय, मनुष्य और उसका वहिर्जगत, इन दोनों का मूल-तत्व है इच्छाशक्ति। इच्छाशक्ति ही मूर्त होकर दृश्यमान जगत के रूप में हमारे निकट प्रकाशित है।

मनुष्य का शरीर उसकी संकलपशक्ति का ही प्रकाश है। उसकी इच्छा ने ही देह का रूप धारण किया है। यह संकलपशक्ति बुद्धि के साथ युक्त न होकर शुद्ध-संकल्प के रूप में रहती है और शरीर में प्राणशक्ति के रूप में काम करती है। जब यह बुद्धि के साथ युक्त होती है, तब इसको हम अपनी स्वाधीन इच्छा के रूप में पाते हैं।

हम जानें या न जानें हमारे में इच्छाशक्ति का काम अविराम चल रहा है। शरीर और मन को तो क्लान्ति है, परन्तु इच्छाशक्ति को क्लान्ति नहीं है। सुप्त और स्वप्नावस्था में भी इसका काम चलता रहता है। शरीर के संगठन के पहिले से ही इच्छा वर्तमान है। इच्छा के निर्देश से ही शरीर एक विशेष आकार को प्राप्त करता है, जिससे इच्छाशक्ति का उद्देश्य सफल हो सके। जीव-जन्तुओं के शरीर के संगठन को देखकर हमें यह जान पड़ता है कि उस शरीर संगठन के अनुरूप ही उनकी क्रिया है। अर्थात् उनकी प्रकृति, उनकी आकृति के अनुरूप है। परन्तु ऐसा नहीं है। वास्तविकता यह है कि क्रिया के उद्देश्य से ही उसका संगठन है। अर्थात् प्रकृति के लिये ही आकृति है। पंख है, इसीलिये पक्षी उड़ सकता है, ऐसा नहीं। पक्षी उड़ना चाहता है, इसीलिये उसके पंख हैं। हमने देखा है कि पंख निकलने के पहिले से ही पक्षी

उड़ने की चेष्टा करता है। क्षुद्र पतंग, अपनी आत्मरक्षा के संकल्प के फल-स्वरूप ही पेड़ के पत्तों के रंग के अनुरूप देह के रंग को प्राप्त करता है। इसलिये सर्वत्र यही मिलेगा कि एक इच्छाशक्ति ही मूलतत्व के रूप में वर्तमान है।

परन्तु मनुष्य के क्षेत्र में इच्छाशक्ति का इस प्रकार सहज प्रकाश नहीं हो सका है। मनुष्य जीवन की जटिलता के कारण उसकी आकांक्षा और उद्देश्य भी जटिल हैं, और इसलिये उसकी आत्मरक्षा में अधिक निपुणता की आवश्यकता है। इसीलिये मनुष्य के क्षेत्र में इच्छाशक्ति या संकल्प (Will) ने आत्म-प्रकाश किया है, बुद्धि के रूप में। इतर प्राणियों के क्षेत्र में जिसका प्रकाश निर्दिष्ट और मुक्त था, मनुष्य के क्षेत्र में वह सूक्ष्म और आत्मगोपन-शील हुआ।

उद्‌भिज जगत में भी इसी इच्छाशक्ति का प्रकाश है। यह प्रकाश स्पष्ट नहीं है, इसलिये हमारी नजरों में नहीं पड़ता। पेड़ सूर्य के आलोक को चाहता है, इसीलिये उसकी गति ऊद्‌र्ध्व की ओर है; उसके जड़ को रस की आकांक्षा है, इसीलिये वह सरस मिट्टी की ओर दौड़ती है। लता अपने आश्रय को खोज लेती है और अंकुर बीज के बीच से आत्म-प्रकाश करता है। इन तथ्यों से सहज ही में समझा जा सकता है कि जीव-जगत की भांति उद्भिज जगत में भी इच्छाशक्ति ही मूलतत्व के रूप में अपने को प्रकाशित करती है। फर्क यह है कि यह प्रकाश कहीं अज्ञान में हो रहा है, और कहीं सज्ञान में। जड़ पदार्थ में भी इस इच्छाशक्ति का प्रकाश देखा जाता है। प्रत्येक पदार्थ की अपनी विशेष प्रकृति है। कोई पदार्थ मिलना चाहता है, और कोई नहीं। तरल पदार्थ नीचे की ओर जाना चाहता है, धातु पदार्थ शीघ्र गरम होना

चाहता है, शक्कर दाना पकड़ना चाहता है, इत्यादि असंख्य उदाहरण यही प्रमाणित करता है कि जड़ जगत में भी इच्छाशक्ति ही मूलतत्व के रूप में काम करती है। इसलिये हम देखते हैं कि जड़, उद्भिज्ज और जीव में एक इच्छाशक्ति की ही क्रिया हो रही है। यह अस्तित्व मात्र नहीं है। यह विशेष पदार्थ के रूप में निर्दिष्ट अस्तित्व के आकार में प्रकाश प्राप्त करने की इच्छा है। 'होना' इसका स्वरूप नहीं है, इसका स्वरूप है 'होने की इच्छा करना'। इसका स्वरूप देश-काल के बाहर है और हमारे लिये अज्ञेय है। जब यह निर्दिष्ट पदार्थ के रूप में देश-काल के जगत में अपने को व्यक्त करती है, तभी इसको पदार्थ-रूप में हम पहचान पाते हैं।

यह सार्वभौम इच्छाशक्ति जब दृश्यमान जगत के रूप में अपने को व्यक्त करती है, तब वह हमारी धारणाओं के बीच से ही करती है। ये धारणाएं (Ideas) देश-काल-निरपेक्ष तथा शाश्वत हैं। इच्छाशक्ति की निम्न-स्तर की अभिव्यक्ति में जो धारणाएं हैं, वे हैं गुरुत्व, घनत्व, तरलता, आकर्षण-शक्ति आदि। प्राणी जगत में उच्चतर धारणाओं का उद्भव होता है और मनुष्य जगत पर आकर सर्वोच्च स्तर पर इसकी परिसमाप्ति होती है। निम्नस्तर की शक्ति को अतिक्रमण कर ही उच्चस्तर पर उपनीत हुआ जा सकता है, और इस प्रकार स्तर को अतिक्रम करने का युद्ध ही जीवन-युद्ध है।

यह इच्छाशक्ति है निरन्तर आत्मप्रकाश की इच्छा। यह शाश्वत शक्ति ही दृश्यमान जगत के मूल में है। जब तक इच्छाशक्ति रहेगी, तब तक जगत भी रहेगा। विशिष्ट पदार्थों के, जीव के जन्म और मृत्यु हैं, परन्तु इनके मूल में जो इच्छाशवित है, वह शाश्वत है। इसलिये शोपेनहावर के अनुसार मृत्यु कोई भयावह दुःख की घटना नहीं है; जन्म की भांति, यह भी विश्व

नियम का एक अंग है । मृत्यु से सार्वभौम इच्छाशक्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता है, परिवर्तन होता है केवल वाह्य आवरण में । शोपेनहावर के अनुसार यदि इच्छाशक्ति ही सब जीवन के मूल में है, तो इच्छाशक्ति ही सब दुःखों के मूल में भी है । इसलिये, इसके प्रकाशस्वरूप जिस जगत को हम पाते हैं. वह सर्वश्रेष्ठ जगत नहीं हो सकता । वह एक निकृष्ट जगत है । कवि-कल्पना को हम छोड़ दें तो वास्तव जगत में हम निरंतर जो देखते हैं, वह यह कि परस्पर आक्रमण ही जीव जगत का नियम है । इस जीवन-युद्ध में विजयी के आनंद की तुलना में विजितों की दुःख-वेदना कहीं अधिक है । मानव-सभ्यता का इतिहास क्रम से मिथ्याचार, कुचक्र, हत्या, युद्ध आदि का इतिहास है । मनुष्य के सद्‌गुणों के मूल में है, अहंकार और आत्मतृप्ति । राज्यों तथा सभ्यताओं के उत्थान और पतन के मूल में है, जीवन को पूर्णरूप से भोग करने का प्रयास । परन्तु जितना ही हम जीवन से चिपटे रहना चाहेंगे, उतना ही हम दुःख को निमन्त्रण देंगे । क्योंकि जीवन तो दुःख का ही प्रतीक है । इसके अलावा मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा जीवन को जितने सूक्ष्म स्तरों पर ले जायगा, दुःख की गहराई भी उतनी ही बढ़ेगी । इसीलिये अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य का दुःख विराट है ।

शोपेनहावर के अनुसार जीवन का अर्थ ही यदि दुःख है तो स्थायी सुख की आशा कल्पनामात्र है । सुख नाम की यदि कोई वस्तु है, तो वह दुःख का अभाव मात्र है । इस सुख की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब इच्छाशक्ति अपनी ही गति के विरुद्ध जाय । इच्छाशक्ति का प्रकाश ही जीवन है और जीवन दुःख ही है । इसलिये दुःख से मुक्ति पाने के लिये जीवन की स्वाभाविक गति से अपने को हटा लेना होगा,--निर्लिप्त होना होगा ।

ईसाई और बौद्धधर्म ने इस प्रकार की मुक्ति का सन्देश ही मनुष्य को सुनाया है। इन दोनों धर्मों ने यह दिखाया है कि जीवन को ग्रहण करते हुए ही मनुष्य ने दुःख वरण किया है।

शोपेनहावर ने कहा है कि उनके दर्शन ने जगत के आदि कारण के अनुसंधान की चेष्टा नहीं की है, बल्कि मनुष्य की अनुभूति में से ही तथ्यों का संग्रह और उनका विश्लेषण कर उनके पारस्परिक सम्बन्धों को दिखलाने की चेष्टा की है। अनुभव के बाहर से कुछ आहरण करने की चेष्टा उसने नहीं की है, केवल इन्द्रियानुभूति तथा आत्मचेतना-लब्ध तथ्यों की व्याख्या करने की चेष्टा की है। हमारा अनुभव इस प्रकार क्यों है और अन्य प्रकार क्यों नहीं है, इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास इसमें नहीं है। क्यों कि इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर बुद्धि के द्वारा नहीं दिया जा सकता। बुद्धि को कार्य-कारण पर निर्भर रहना पड़ता है, इसलिये, बुद्धि को उन्हीं तथ्यों के जानने का अधिकार है, जो कार्यकारण विधि के द्वारा नियन्त्रित हैं। कार्यकारण विधि के बाहर के चीजों को जानने का उपाय बुद्धि के लिये नहीं है। जब हम 'क्यों' यह प्रश्न उठाते हैं तो यह भूल जाते हैं कि 'क्यों' का अर्थ है, 'इसका कारण क्या है'। अतएव, 'क्यों' इस प्रश्न के द्वारा हम उस प्रश्न के उत्तर को कार्य-कारण अर्थात् देश, काल और जगत के अन्दर खींच लाते हैं। स्पष्ट है कि जो देश काल के जगत में नहीं है, उसके सम्बन्ध में 'क्यों' यह प्रश्न अवान्तर और अर्थहीन है। अनुभव के बाहर के समाचार जानने की चेष्टा कर मनुष्य की बुद्धि अन्धे की भांति केवल अपने घर की दीवार पर शिर टकराती रहती है। ब्रूनो, स्पिनोजा और शेलिंग की भांति शोपेनहावर ने भी एक ही तत्व को मूलरूप में स्वीकार किया है। परन्तु उन्होंने जो विचार रखा है,

उसमें यह तत्व, अनुभव को लांघकर, अनुमान के द्वारा ईश्वर नामक वस्तु को खींच नहीं लाता। शोपेनहावर के दर्शन का मूलतत्व है इच्छाशक्ति और इसको हम अपने अनुभव में ही पाते हैं। इसलिये उन्होंने अपनी दर्शन-पद्धति को वैज्ञानिक कहा है। क्योंकि वैज्ञानिक पद्धति के अनुरूप इसकी गति परिचित से अपरिचित की ओर है (Inductive)।

देखा जाय तो एक प्रकार से शोपेनहावर के दर्शन में अनुभववाद विद्यमान है। देर से ही सही, उस समय के जर्मनी ने उनके इस वास्तववाद और भाववाद के सम्मिश्रण को, इसकी नवीनता के कारण, आग्रह से ग्रहण किया था। यह वास्तववादी (Realistic) इसलिये है कि इसमें जड़वाद को स्थान दिया गया है। यह भाववादी (Idealistic) इसलिये है कि दृश्यमान जगत को ही उसने अन्तिम सत्य नहीं माना है। इस पर काण्टीय दर्शन का भी छाप है, क्योंकि यह स्वीकार करता है कि दृश्यमान जगत बुद्धिजात है। शोपेनहावर के दर्शन में यह एक लक्ष्य करने की बात है कि इसमें इस बात का आभास है कि विज्ञान (Science) और अति-विज्ञान (Metapysics) का समन्वय हो सकता है।

पठनीय

शोपेनहावर लिखित :—

The Fourfold Root of the Sufficient Reason

—Translated by Karl Hillebrand.

The World as Will and Idea—3 Vols.

—Translated by R. B. Haldane and John Kemp.

The Basis of Morality--Translated by A. B. Bullock.

Selections--Edited by Parker (Scribners).

सहज-प्रवेशिका :—

Will Durant--The Story of Philosophy.

W. Wailace--Life of Schopenhauer.

आलोचनात्मक :—

William Caldwell--Schopenhauer's System in Its Philosophical Significance.

T. Whittaker--Schopenhauer.

H. Zimmern--Schopenhauer, His Life and Philosophy.

छठां अध्याय

शोपेनहावर के बाद

शोपेनहावर के बाद पाश्चात्य जगत की दार्शनिक विचारधाराएं अनेक शाखाओं में तथा बहु वैचित्र्य के साथ प्रकाशित होने लगीं। पहिले ही कहा जा चुका है कि हेगेलीय दर्शन से दक्षिणपन्थी तथा वामपन्थी दलों का उद्भव हुआ और प्रकृतिवाद (Naturalism) और जड़वाद (Materialism) का जन्म हुआ। दूसरी ओर विज्ञान की कसौटी पर काण्ट के दर्शन को जांचने का प्रयास होने लगा, और इसके परिणामस्वरूप एक दल नवीन-काण्टवाद (Neo Criticism) का प्रचार करने लगा। इसके अलावा दर्शन में, नये वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप, जगत के मूलतत्व की नई व्याख्या होने लगी। इस जड़वाद और प्रकृतिवाद की दूसरी सीमा पर दक्षिणपन्थी हेगेलवादियों ने ईश्वरवाद (Theism) को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। जर्मनी की भांति फ़्रांस, इटली, इंग्लैंड और अमेरिका में भी दार्शनिक विचारधारा के विभिन्न और विचित्र रूप दिखाई देने लगे। परन्तु सर्वत्र मुख्यरूप से दो विपरीतमुखी विचारधाराओं ने आत्म-प्रकाश किया। एक ओर था प्रकृतिवाद (Naturalism), वह चाहे जड़वाद हो चाहे प्रत्यक्षवाद हो (Positivism), और दूसरी ओर इसकी विरोधी धारा--चाहे वह भाववाद (Idealism) के रूप

में हो चाहे चेतनात्मक वास्तववाद (Spiritualistic Realism) के रूप में ।

इन विभिन्न धाराओं के अनेक पृष्ठपोषक दार्शनिकों में से कुछ विशिष्ट दार्शनिकों के मतों की आलोचना नीचे की जा रही है ।

कोंत् (Auguste Comte 1798-1857)

[फ्रांस के मान्टपेलिये नगर के एक मध्यम श्रेणी के परिवार में सन् १७९८ ई० में कोंत् का जन्म हुआ । प्रादेशिक विद्यालय के छात्रों में परीक्षा में प्रथम स्थान अधिकार कर वह पन्द्रह वर्ष की अवस्था में पेरिस के पालिटेकनिकल स्कूल में भर्ती हुए । और वहां उन्होंने गणित तथा विज्ञान का अध्ययन किया । शिक्षक के अशिष्टाचार के विरुद्ध प्रतिवाद करने के कारण वह अपने कुछ मित्रों सहित उक्त स्कूल से निकाले गये । इस प्रकार १८ वर्ष की अवस्था में कोंत् स्वावलम्बी होने को वाध्य हुए, क्योंकि उनके पिता उनका व्यय-भार वहन करने में अक्षम थे । कोंत् के जीवन में कई बार अधिकारियों से विरोध हुआ और इसके परिणामस्वरूप उनको आर्थिक हानि भी हुई । फ्रांस के तत्कालीन विख्यात समाज-सुधारक सेन्ट सीमों (Saint Simon) ने कोंत् की विचारधारा पर प्रभूत प्रभाव डाला था । प्रायः ६ वर्ष वह सेन्ट सीमों के संस्पर्श में थे । इसके बाद उनसे मतभेद होने के कारण उन्होंने सीमों का साथ छोड़ दिया । "समाज-संस्कार के लिये आवश्यक वैज्ञानिक पद्धति की एक योजना" नामक एक प्रबन्ध लिखकर कोंत ने कई प्रख्यात विचारशील व्यक्तियों को भेजा और इसी से उनकी प्रसिद्धि फैल गई। कोंत् का विवाहित जीवन सुखी न था । एक पतिता नारी से उन्होंने विवाह किया था,

परन्तु मानसिक अशान्ति के कारण दो वर्ष बाद ही उन्होंने आत्महत्या करने की चेष्टा की। बाद को वे पृथक् हो गये। इसी बीच उनका मुख्य ग्रन्थ "प्रत्यक्षवादी दर्शन" (Positive Philosophy) पांच खण्डों में प्रकाशित हुआ। इस पर भी किसी शिक्षाकेन्द्र में अध्यापक होने की सुविधा उन्हें न मिली और एक गृह-शिक्षक के कार्य से वह जीविका उपार्जन करने लगे। परन्तु उनकी आर्थिक अवस्था क्रमशः खराब होने लगी। इंग्लैंड के जॉन स्टुअर्ट मिल तथा फ्रांस के अन्य मित्रों ने नियमित अर्थ सहायता से उनकी जीवन यात्रा को कुछ सुगम बना दिया था। इस समय एक विवाहिता नारी के साथ कोंत् का घनिष्ठ परिचय हुआ, परन्तु दोनों की इच्छा होते हुए भी कानूनी दृष्टि से असम्भव होने के कारण उनका विवाह नहीं हो सका। इस महिला की मृत्यु के बाद भी कोंत् सुबह, शाम उसकी याद करते और प्रति सप्ताह उसके समाधिस्थान पर जाते थे। कोंत् के जीवन के इस अध्याय ने उनके अन्तिम दिनों के दार्शनिक मतवाद में एक परिवर्तन ला दिया था। कोंत् का द्वितीय प्रधान ग्रन्थ प्रत्यक्षवादी राजनीति में यह परिवर्तन सहज ही दृष्ट होता है। सन् १८५७ ई० में कोंत् की मृत्यु हुई। वह जिस गृह में रहते थे और जहां छात्र-मित्र-परिवृत होकर वह दर्शन की आलोचना करते थे, प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों के लिये वह आज भी एक तीर्थस्थान स्वरूप है।]

कोंत के अनुसार विश्व की व्याख्या करने जाकर मनुष्य का मन क्रमशः तीन स्तरों से होकर चला है। प्रथम स्तर है धर्मशास्त्र का युग (Theological Stage)। यह मनुष्य की विचारधारा की आदि अवस्था है। इस आदि अवस्था के भी तीन स्तर हैं। प्रथम स्तर पर मनुष्य ख्याल करता

है कि पृथ्वी के सभी पदार्थ जीवित हैं; सबमें प्राण-शक्ति है, कहीं प्रकाशित और कहीं प्रच्छन्न। द्वितीय स्तर पर मनुष्य यह कल्पना कर लेता है कि जगत् में कुछ अदृश्य जीव हैं, जो जागतिक घटनाओं के एक-एक विभाग की परिचालना करते हैं। इसी से अनेक ईश्वरवाद (polytheism) की उत्पत्ति है। इसके बाद के स्तर पर ये सब ईश्वर समन्वित होकर मनुष्य मन के निकट विश्वनियन्ता एक-ईश्वर में रूपान्तरित होता है। इस प्रकार एकेश्वरवाद (Monotheism) का जन्म होता है।

विश्व-व्याख्या के द्वितीय स्तर पर मनुष्य का मन जागतिक घटनाओं को किसी का इच्छाकृत नहीं समझता। प्रकृति तब मानवसृष्ट ईश्वर द्वारा परिचालित नहीं मालूम पड़ती। तब मनुष्य यह विचार करता है कि प्रकृति एक शक्ति या नियम के द्वारा परिचालित होती है। मनुष्य की विचारधारा में यही अतिविज्ञान का स्तर (Metapysical Stage) है। पहिले मनुष्य ने विश्वपरिचालना के सम्बन्ध में जिन देव-देवियों को मान लिया था, अब उनको हटाकर उनके स्थान पर 'आत्मा', 'सत्ता' आदि तत्वों को ग्रहण किया। मनुष्य के मन ने 'पूर्णता', 'पुण्य', 'अनन्त', आदि शब्दों के द्वारा जगत् की घटनाओं की व्याख्या करने की चेष्टा की। परन्तु कोंत के अनुसार इससे वास्तव या सत्य का सन्धान नहीं मिला। ये अमूर्त धारणाएं मात्र हैं; वास्तविक सत्य नहीं, सत्य के आवरण मात्र हैं। अतिविज्ञान के स्तर पर मानवमन ने केवल प्राणहीन शब्दों की ही सृष्टि की है, जीवित सत्य को वह जान नहीं सका है। इस स्तर पर हमने भूल से सत्य के आवरण को ही सत्य का स्वरूप मान लिया है। कोंत के अनुसार मध्ययुग के शेष पर्यन्त मनुष्य के दार्शनिक विचार जगत में इस अतिविज्ञान का ही युग था।

मानव-सभ्यता के आधुनिक युग के आरम्भ में अतिविज्ञान के इस मिथ्या शब्दजाल के विरुद्ध जब अतृप्त मनुष्य के मन ने आन्दोलन शुरू किया, तभी से तृतीय स्तर का आरम्भ है। यही प्रत्यक्षवाद (Positivism) का युग है। प्रत्यक्षवादी युग के आरम्भ के साथ-साथ 'धर्म शास्त्र' और अति विज्ञान का प्रभाव घटने लगा। विज्ञान के नये आविष्कारों के कारण मनुष्य का मन अतीन्द्रिय जगत के रहस्यमय व्यापारों से तृप्त न रहकर प्रत्यक्ष जगत के साथ घनिष्ठ परिचय प्राप्त करने को व्यग्र हुआ।

दर्शन की भांति विज्ञान में भी, एक के बाद एक, तीन स्तर हैं। विज्ञान की क्रमोन्नति के इतिहास में भी हम देखते हैं कि यह क्रमशः जटिल से जटिलतर हुआ है और इसकी व्यापकता घटती गई है। संख्या गणित और बीजगणित सबसे सरल और व्यापक है, और ये अन्य किसी विज्ञान पर निर्भर नहीं हैं। इसलिये ये हैं मूलविज्ञान। इसके बाद आई ज्यामिति। इसको संख्या विज्ञान के सत्य पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके बाद आता है गतिविज्ञान, संख्या विज्ञान और ज्यामिति, इन दोनों को आश्रित कर गतिविज्ञान का उद्भव है। परन्तु ये गति विज्ञान पर आश्रित नहीं हैं। पुनः, इन सबको लेकर गणित है। गणित ही सब विज्ञानों का मूलविज्ञान है।

इस प्रकार गणित के बाद ज्योतिष और ज्योतिष के बाद पदार्थ विज्ञान का उद्भव हुआ। इसके बाद आया रसायन और फिर जीवविज्ञान। इन सबके अन्त में हमें मिला है, समाजविज्ञान। १८वीं शताब्दि के योरोपीय विद्रोह के फलस्वरूप ही प्रत्यक्षवादी दर्शन का जन्म हुआ। जन्म तो हुआ, परंतु उस समय वह प्रतिष्ठित नहीं हो पाई थी। राजनीतिक और सामाजिक धारणाएं निर्दिष्ट नियमों के द्वारा नियन्त्रित हैं। इन नियमों की जान-

कारी से इतिहास भी विज्ञान में परिणत होगा। समाज की क्रमोन्नति किसी अतिप्राकृत शक्ति के द्वारा संचालित नहीं है, बल्कि यह निर्दिष्ट नियमों के द्वारा नियन्त्रित है।

जब नीति-विज्ञान (Ethics) इस प्रकार प्रत्यक्षवाद के स्तर पर पहुंचेगा, तो दर्शन भी प्रत्यक्षवादी (Positive Philosophy) होगा। प्रत्यक्षवाद किसी विज्ञान की शाखा नहीं है; यह मनुष्य के समस्त ज्ञान का समन्वय है। विज्ञान से उत्पन्न होने के कारण, यह दर्शन-पद्धति वैज्ञानिक है। इस दर्शन पद्धति की भित्ति इन्द्रियज ज्ञान है, और आगमन-निगमन प्रणाली को इसने ग्रहण किया है। यही यथार्थ दर्शन है, क्योंकि इसकी विषयवस्तु समस्त जगत् है। प्रत्यक्षवादी दर्शन मनुष्य के सब ज्ञानों में समन्वय की चेष्टा करता है। यह विज्ञान में दर्शन की सार्वभौमिकता को लाता है और दर्शन को विज्ञान-सम्मत बनाता है।

कोंत् के अनुसार अतिविज्ञान के युग की पूर्ण समाप्ति होगी। यह विज्ञान-सम्मत न होने के कारण समसामयिक विचारशील व्यक्ति इसको उत्साह के साथ ग्रहण नहीं करते। यह अनुमान के बाद अनुमान की सृष्टि कर चलता है। और किसी निश्चित सिद्धान्त पर उपनीत नहीं हो पाता। इसके मतवाद परस्पर विरोध के कारण क्षयप्राप्त होते हैं। परन्तु विज्ञान में ऐसा नहीं है। इसमें ज्ञान की क्रमोन्नति होती है। इतिहास की परिणति की दृष्टि से अतिविज्ञान में भी जो क्रमोन्नति हुई है, वह निरर्थक नहीं है। उसने धर्म को हटाकर उसके स्थान पर प्रत्यक्षवाद को प्रतिष्ठित किया है। परन्तु अब अतिविज्ञान का कार्य समाप्त हो चुका है। मनुष्य के संस्कृति के इतिहास में यह एक अध्याय होकर रहेगा।

ऊपर कोंत् के दर्शन की जो आलोचना की गई, उससे समझा जा सकता है कि यह वास्तववाद (Realism) और अनुभववाद (Empiricïsm), इन दोनों का सम्मिश्रण है। अन्त में कोंत् ने कहा है कि विज्ञान मनुष्य की इच्छा का ही प्रकाश है। क्योंकि मनुष्य को केन्द्रित कर ही प्रकृति है। मनुष्य के स्वरूप को जानने पर विश्व के स्वरूप को जाना जा सकता है। इसलिये अन्त की ओर प्रत्यक्षवादी दर्शन में भाववाद का स्पष्ट आभास मिलता है।

पठनीय

कोंत् लिखित :--

Discourse On the Positive Spirit--Translated into English by E. S. Beesly.

Positive Philosophy--Condensed Translation in English by H. Martineau.

Positive Religion--Translated into English by R. Congreve.

सहज-प्रवेशिका :--

H. Hoffding--History of Modern Philosophy Vol. II.

L. Levy-Bruhl--History of Modern Philosophy in France.

आलोचनात्मक :--

J. S. Mill--Auguste Comte and Positivism.

E. Caird--The Social Philosophy of Comte.

जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill 1806-1873)

[सन् १८०६ ई० में लन्दन नगरी में जॉन स्टुअर्ट मिल का जन्म हुआ। उनके पिता जेम्स मिल इंग्लैंड के एक प्रसिद्ध विचारशील लेखक थे और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक विशिष्ट कर्मचारी थे। अपने पुत्र की शिक्षा का भार उन्होंने स्वयं ग्रहण किया। तीन वर्ष की अवस्था में ही जॉन स्टुअर्ट ने ग्रीक भाषा सीखनी आरम्भ की। और प्रायः साथ ही साथ अंग्रेजी और अंकगणित सीखना भी उन्होंने आरम्भ कर दिया। आठ वर्ष की अवस्था में उन्होंने लैटिन भाषा सीखनी आरम्भ की। मिल जो स्वयं सीखते थे वह फिर उनको अपने छोटे भाई-बहनों को सिखाना पड़ता था। इस प्रकार स्वल्पावस्था में ही अनेक भाषाओं पर उन्होंने अधिकार प्राप्त किया और पिछली शताब्दि तथा समसामयिक विचारधारा से वह परिचित हुए। कोंत के प्रत्यक्षवाद (Positivism) और बेन्थम के उपयोगितावाद (Utilitarianism) ने उनको यथेष्ट प्रभावित किया था। अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी दर्शन के साथ उनका जिस प्रकार परिचय था, जर्मन दर्शन के साथ उस प्रकार परिचय न था। सम्भवतः उनका मानसिक संगठन इस प्रकार का था कि जर्मन दर्शन उनको आकृष्ट न कर सका। सोलह वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने एक उपयोगिता समिति (Utilitarian Society) की स्थापना की थी। १७ वर्ष की अवस्था में मिल ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी नियुक्त हुए। इसके पहिले ही वह कानून का अध्ययन कर चुके थे। सन् १८५८ ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी के अन्त होने पर उन्होंने भी अवसर

ग्रहण किया। मिल के पिता ने उनको अध्ययन में ऐसा व्याप्त रखा था कि उनके जीवन में खेल-कूद का कोई स्थान न था। इसके अलावा धर्म की शिक्षा भी उन्हें कभी नहीं मिली। मिसेस हैरिअट नाम की एक विधवा से उन्होंने शादी की थी। सन् १८६५ ई० में मिल पार्लियामेंट के सदस्य हुए। ग्लैडस्टोन के उदारपन्थी दल में वह शामिल थे। मिल गम्भीर प्रकृति के, परन्तु हृदयवान व्यक्ति थे। इंग्लैंड में उनकी विचारधारा का गहरा तथा व्यापक प्रभाव था। सन् १८७६ ई० में उनकी मृत्यु हुई।]

सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार का आदर्श ही मिल के विचार का प्रधान विषय था। मानव-सभ्यता की उन्नति के संबंध में अठारहवीं शताब्दि में जिस आशा और उत्साह का संचार हुआ था, मिल ने उनका हृदय से स्वागत किया था। इसके अतिरिक्त उनका दृढ़ विश्वास था कि शिक्षा के द्वारा मनुष्य चरित्र का संगठन इच्छानुयायी किया जा सकता है। समाज संस्कार के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। किस उपाय का किस प्रकार अवलम्बन से उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है, उसकी जानकारी ही ज्ञान है। परन्तु ज्ञानार्जन के लिये ठीक पद्धति का अनुसरण करना होगा। मिल ने अपनी पुस्तक 'न्यायशास्त्र' (Logic) में इसी ज्ञानार्जन की पद्धति की ही आलोचना की है। जिस पद्धति का अवलम्बन कर विज्ञान उन्नति करता है, अन्य विषयों में भी उस वैज्ञानिक पद्धति को प्रयोग कर देखना उचित है। ज्ञानतत्व के मूल तथ्यों से परिचय न रहने पर ज्ञानार्जन पद्धति की आलोचना सम्भव नहीं। इसलिये मिल ने इस ग्रन्थ में इस विषय की आलोचना की है।

सार्विक और अनिवार्य ज्ञान (Universal and Necessary Knowledge) असम्भव है और कार्यकारण विधि नाम की कोई चीज

हमारी अनुभूति में नहीं है, यह ह्यूम ने पहिले ही दिखाया है। हमारा ज्ञान कुछ धारणाओं की समष्टि है। साहचर्य के नियम के अनुसार (Law of Association) धारणाएं परस्पर संयुक्त होती हैं और इसी से विचार का एक क्रमिक सूत्र कायम रहता है। इसलिये ज्ञानार्जन का अर्थ है धारणा के इस क्रम को जानने की चेष्टा करना। इसी का नाम आगमन पद्धति (Inductive Method) है। विज्ञान की परीक्षामूलक गवेषणा में इसी पद्धति का अवलम्बन किया जाता है। परिचित घटना का आश्रय लेकर हम अनुमान के वल पर जो अपरिचित घटना की जानकारी कर पाते हैं, वही आगमन पद्धति है। अनजाने को जाने हुए के दायरे में लाकर हम जाने हुए जगत का विस्तार करते रहते हैं। परन्तु हमारे परिचित क्षेत्र में घटना जिस प्रकार घटित होती है, अनागत अपरिचित क्षेत्र में भी वैसे ही होगी, इसकी निश्चयता क्या है। मिल के अनुसार इसकी निश्चयता है; क्योंकि विश्व-प्रकृति में एक नियम है, और इसीलिये प्राकृतिक घटनाओं में समता है। एक घटना एक अवस्था में जिस प्रकार घटित होती है, अनुरूप अवस्था में पुनः वह घटना उसी प्रकार घटित होगी, यही जड़ जगत का नियम है।

आगमन पद्धति मूलरूप में कार्य-कारण विधि पर निर्भर है। इसलिये कारणतत्व की आलोचना नितान्त आवश्यक है। मिल के अनुसार सभी प्राकृतिक घटनाएं कार्य-कारण सूत्र में गुथे हुए हैं। कारण बिना कार्य नहीं हो सकता, इसलिये कार्य-कारण सूत्र का अवलम्बन कर जगत् के सभी तथ्यों को हम जान सकते हैं। परन्तु इस प्रकार जगत के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान हम प्राप्त नहीं कर सकते। और उसकी आवश्यकता भी नहीं है। मिल के

अनुसार, हमारे अनुभव के दायरे में यदि इस कार्य-कारण विधि का कोई व्यतिक्रम न हो तो उसे सार्वभौम माना जा सकता है ।

पूर्वगामी अनुभववादियों की भांति मिल ने भी स्वीकार किया है कि हमारी धारणाएं अन्त तक संवेदन (Sensation) छोड़ और कुछ नहीं हैं । हम इस संवेदन को ही जानते हैं । इसके पीछे वस्तु का जो स्वरूप है, उसके जानने का कोई उपाय नहीं है । संवेदन ही इन्द्रियग्राह्य है; इसी के बीच से वाह्य जगत से हमारा परिचय है । इसलिये वाह्य जगत हमारे लिये संवेदन का स्थायी उद्गम स्थान मात्र है । वाह्य जगत है,—हमारा यह जो विश्वास है, इसका कारण यह है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध का अनुभव पुनः हमारे इन्द्रियों को होगा,—यह हमारा एक निश्चित विश्वास है । मिल के अनुसार मन भी इस प्रकार अनुभूतियों की समष्टि मात्र है । परन्तु इस मत को वह पूर्णरूप से ग्रहण न कर सके । क्योंकि उन्होंने इसका उल्लेख किया है कि मन केवल अनुभूति का क्रम नहीं है, बल्कि अनुभूति के इस क्रम का ज्ञाता भी है ।

पहिले ही कहा जा चुका है कि समाजसंस्कार के प्रति मिल का अतिशय आग्रह था । उनका विश्वास था कि विज्ञान में जिस पद्धति के प्रयोग से नवीन तथ्यों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, समाज और राजनीति के क्षेत्र में भी उस पद्धति के प्रयोग से अनुरूप लाभ प्राप्त हो सकता है । नीतिविज्ञान में मिल का विश्वास बेन्थम जैसा ही था कि मनुष्य के कार्यों का विचार उनके फल के द्वारा ही करना होगा । कृत कार्य के फलस्वरूप जिस परिमाण में सुख की वृद्धि होगी, वह कार्य उसी परिमाण में न्यायसंगत है, और जिस परिमाण में दुःख की वृद्धि होगी, वह कार्य उसी परिमाण में अन्याय

है। अर्थात् कृतकार्य के न्याय-अन्याय का मापदंड है, उसके द्वारा सुख अथवा दुःख की वृद्धि। परन्तु यह सुख व्यक्तिगत सुख नहीं है, यह समष्टिगत है। यह समाज के अधिकतम संख्यक लोगों का अधिकतम सुख है। मिल के अनुसार प्रत्येक मनुष्य सुखान्वेषी है, सुख ही उसका काम्य है, और इसी में उसका कल्याण है। इसीलिये व्यक्तिगत कल्याण की समष्टि ही समाजगत कल्याण है। तो भी बेन्थम के मत की अपेक्षा मिल का मत अधिक उन्नत था। बेन्थम के अनुसार हम कर्तव्य का सम्पादन करते हैं, सुख की प्राप्ति के लिये; मिल के अनुसार हम कर्तव्य के नाते ही कर्तव्य करते हैं, सुख की आशा से नहीं। बेन्थम के अनुसार सुख के लिये ही कर्तव्य है, मिल के अनुसार कर्तव्य में ही सुख है, । इसके अलावा बेन्थम ने सुख निर्वाचन के लिये जिस परिमाणवाचक मापदण्ड का निर्देश किया है, मिल ने उसे ग्रहण नहीं किया है। बेन्थम के अनुसार, तुलनात्मकरूप से वही सुख काम्य है, जो तीव्र और स्थायी है। मिल ने इसे स्वीकार नहीं किया; क्योंकि तीव्रता स्थायित्व आदि स्थान-काल-पात्र पर निर्भर हैं। एक के लिये जो तीव्र है, वह दूसरे के लिये नहीं भी हो सकता है। इसलिये यह कोई सार्वभौम मापदण्ड नहीं हो सकता। मिल ने गुणवाचक मापदण्ड को ही इंगित किया है, यद्यपि इस विषय की विस्तृत आलोचना उन्होंने नहीं की है।

राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में मिल थे व्यक्तिवादी। शासनतन्त्र मनुष्यों के व्यक्तिगत अधिकारों में हस्तक्षेप करेगा, इसका वह सहन नहीं कर सकते थे। उनके अनुसार निजी कार्यों में मनुष्य स्वतन्त्र होगा। जिस कार्यों का सम्बन्ध सारे समाज से है, केवल उन्हीं कार्यों पर शासनतन्त्र का नियन्त्रण होना चाहिये। इसके अलावा उन्होंने यह भी कहा था कि अल्पसंख्यक दल

के मत को भी ग्रहण करना पड़ेगा, नहीं तो वास्तविक लोकतन्त्र सम्भव नहीं।

मिल के अनुसार, यह सत्य है कि धर्म और ईश्वर के सम्बन्ध में हमारी जो धारणा है, वह युक्तिसम्मत नहीं है, परन्तु फिर भी उनकी प्रयोजनीयता है। मानवता का धर्म अनेक विषयों में श्रेष्ठ होने पर भी, जो अतिप्राकृत (Supernatural) धर्ममत मानव-सभ्यता के आरम्भ से ही चले आ रहे हैं, उनकी भी प्रयोजनीयता है। इन धर्म मतों ने मृत्यु के बाद जीवन के सम्बन्ध में आशा की वाणी सुनाकर, उसके वर्तमान जीवन के दुःखभार को सहन करने की शक्ति दी है। उस प्रकार के जगत के सृष्टिकर्त्ता रूपी ईश्वर को युक्तिसिद्ध न मानते हुए भी यह सत्य है कि ईश्वर के प्रति विश्वास मनुष्य को नैतिक जीवनयापन में सहायता प्रदान करता है। जगत के सृष्टिकर्त्ता रूपी अनन्त ईश्वर को स्वीकार न करने पर भी जगत के समस्त कल्याण के निदान के रूप में ईश्वर को ग्रहण किया जा सकता है, और इससे मनुष्य का कल्याण ही होता है।

पठनीय

मिल लिखित :—

Liberty.

Utilitarianism.

Three Essays on Religion.

Representative Government.

A System of Logic.

Auguste Comte and Positivism.

An Examination of Sir William Hamilton's Philosophy.

Principles of Political Economy.

सहज-प्रवेशिका--

A. Seth Pringle-Pattison--Philosophical Radicals.

आलोचनात्मक--

Leslie Stephen--The English Utilitarianism 3 Vols.

Ernest Albee--A History of English Utilitarianism.

E. Halevy--The Philosophical Radicals.

हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer 1820-1903)

[इंग्लैंड के डरबी शहर में सन् १८२० ई० में हर्बर्ट स्पेन्सर का जन्म हुआ। उनके पिता स्कूल के शिक्षक थे। उन्होंने पुत्र को बलपूर्वक शिक्षा देने की चेष्टा नहीं की, और जो शिक्षा दी थी, वह पूर्णरूप से कार्यकरी शिक्षा ही थी। हर्बर्ट ने भी शिक्षालय के नियमाधीन रहकर शिक्षा ग्रहण करना पसन्द नहीं किया। इसलिये उनकी सारी शिक्षा विद्यालय के बाहर, स्वयं अपनी चेष्टा से हुई। पहिले जीवन में उन्होंने स्थापत्य विद्या पर आयत्त किया था और उसी के द्वारा अपनी जीविका उपार्जन करते थे। इसके बाद वह 'इकनामिष्ट' नामक पत्रिका के सह-सम्पादक नियुक्त हुए। परन्तु इसके पहिले ही उन्होंने दर्शन शास्त्र का अध्ययन आरम्भ कर दिया था। काण्टीय दर्शन का अध्ययन करते समय जब उन्होंने देखा कि काण्ट ने देश और काल को मानव-मन द्वारा सृष्ट कहा है, तो उसी समय काण्ट को निर्बोध समझ कर उनके दर्शन का आगे अध्ययन नहीं किया। सन् १८६० ई० में हर्बर्ट स्पेन्सर ने दस खंडों में अपने 'समन्वयी-दर्शन' (Synthetic Philosophy) लिखने की परिकल्पना की घोषणा की। उनका अवशिष्ट जीवन इसी पुस्तक के लिखने में व्यतीत हुआ। उनका पाण्डित्य असाधारण था। जीवनभर-साध्यानुसार तथ्य संग्रह कर और उसी के ऊपर निर्भर रहकर उन्होंने इस पुस्तक की रचना की है। कभी-कभी तथ्य ठीक न होने के कारण वह ठीक सिद्धांत पर उपनीत नहीं हो सके हैं। वह स्वयं जिस चीज को ठीक समझते थे, उसी को अन्तिम सत्य मान लेते थे। उनका यह अहंकार अंतिम दिनों तक कायम था।

हर्बर्ट स्पेन्सर का मानसिक संगठन असाधारण रूप से वैज्ञानिक था। इसीलिये मनुष्य जीवन के कोमल अंश से उनका कोई परिचय न था। तथ्य की भित्ति पर जीवन का माप जोख करते हुए वह जीवन के रस से वञ्चित हुए। वह चिरकुमार थे। ऐसी किम्बदन्ती है कि स्पेन्सर के निकट ट्रैजेडी का अर्थ था वास्तव घटना के द्वारा मतवाद की मृत्यु। हर्बर्ट स्पेन्सर को अत्यन्त असुविधा और अभाव के बीच पुस्तक लिखना पड़ा था। मिल आदि कुछ मित्रों की सहायता से ही वह दस खंडों में अपनी पुस्तक 'समन्वयी दर्शन' छपवाने में समर्थ हुए। उनकी पुस्तक की ख्याति धीरे-धीरे बढ़ने लगी, और उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने समसामयिक दार्शनिकों में श्रेष्ठ स्थान अधिकार किया। सन् १९०३ ई० में हर्बर्ट स्पेन्सर की मृत्यु हुई।]

हर्बर्ट स्पेन्सर के यौवन में इंग्लैंड में विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में नये आविष्कारों की बाढ़ आई थी। जीवविज्ञान के नये आविष्कारों तथा विकासवाद ने स्पेन्सर को विशेषरूप से अनुप्राणित किया था। डारविन और लामार्क (Darwin and Lamark) ने दिखाया कि व्यवहार और अव्यवहार के बीच से जीव सरल से जटिल आकार में क्रम-परिणति प्राप्त करता है। सन् १८५० ई० में विकासवाद की बात हर जबान पर सुनाई पड़ती थी। डारविन के पहिले ही स्पेन्सर ने "आनुमानिक सिद्धान्त की उन्नति" (The Development of Hypothesis) नामक एक प्रबन्ध में विकासवाद का जिक्र किया था। उनके "मनोविज्ञान के मूलसूत्र" नामक ग्रन्थ (Principles of Psychology) में भी इसका उल्लेख है। सन् १८५८ ई० में डारविन और वालेस (Wallace) ने लिनियन समिति (Linnaean Society) में अपने विख्यात प्रबंध का पाठ किया और सन्

१८५९ ई० में डारविन की क्रांतिकारी पुस्तक "जीवों की उत्पत्ति" (Origin of Species) प्रकाशित हुई। इसमें विकासवाद केवल इंगित या आभास के रूप में न रहकर एक प्रधान मतवाद के रूप में घोषित हुआ। सारी दुनिया में विकासवाद की आलोचना फैल गई। सतरहवीं सदी में जिस प्रकार गणित ने ही दार्शनिक विचार को रूप दिया था, और अठारहवीं सदी में जिस प्रकार मनोविज्ञान ने ही दार्शनिक मत को संचालित किया था, उसी प्रकार उन्नीसवीं सदी में जीवविज्ञान ने दार्शनिक विचारधारा को अनुप्राणित किया। हर्बर्ट स्पेन्सर ने जीवविज्ञान के इस विकासवाद को मूलतत्व के रूप में ग्रहण कर, मनुष्य के ज्ञान के सब क्षेत्रों में इसका प्रयोग किया। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं से जो नवीन तथ्यों और सिद्धान्तों का ढेर इकट्ठा हो गया था, शिक्षित मन उनके समन्वय की अपेक्षा कर रहा था। हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपने 'समन्वयी दर्शन' में उनकी इस इच्छा की पूर्ति की।

स्पेन्सर प्रकृतिवादी (Naturalistic) थे। दो बातों से यह जाना जाता है। पहिले तो उन्होंने प्रत्यक्षवाद को स्वीकार किया है, क्योंकि मनुष्य की अनुभव की सीमा के दायरे में ही उन्होंने ज्ञान का स्थान निर्धारित किया है और मान लिया है कि विज्ञान के द्वारा ही यह ज्ञान सम्भव है। दूसरा, जड़वाद के साथ भी उनका संयोग है। क्योंकि उन्होंने जो सार्वभौमिक दर्शन की रचना का प्रयास किया है, उसकी भित्ति है विकासवाद। इस विकासवाद को उन्होंने विज्ञान से ही लिया है, और मनुष्य तथा समाज को जड़-प्रकृति का अंग मान लिया है।

स्पेन्सर के दर्शन को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहिला अज्ञेयतावाद (Agnosticism) और दूसरा, विकासवाद की दृष्टि से

जड़-प्रकृति तथा मनुष्य का विश्लेषण। पहिले में उनके दार्शनिक मत की भित्ति अज्ञेयतावाद के द्वारा उन्होंने धर्म विश्वास और विचार-बुद्धि के समन्वय का प्रयास किया है। दूसरे में वैज्ञानिक तथ्यों का समन्वय दिखाया गया है।

हैमिलटन और मैनसेल की भांति स्पेन्सर भी ज्ञान की आपेक्षिकता में विश्वास रखते थे। ज्ञानमात्र यदि आपेक्षिक है तो वह सम्बन्ध युक्त है। इसलिये ज्ञान की प्रकृति यदि सम्बन्ध युक्त है, तो जो सम्बन्धातीत अथवा परम (Absolute) है, उसे जानने का कोई उपाय नहीं है। वह अज्ञेय है। किसी वस्तु को जानने के लिये उसे अन्य वस्तु के साथ सम्बन्धयुक्त करना होगा। जो वस्तु सम्बन्ध से सम्पूर्ण मुक्त है, उसे हम जान नहीं सकते। फिर भी इस अज्ञेय को स्वीकार करने को हम बाध्य हैं। क्योंकि ज्यों ही हम सीमा को स्वीकार कर लेते हैं, त्यों ही सीमा के पार करने को भी स्वीकार कर लेते हैं। इसलिये अज्ञेय होने पर भी इसके अस्तित्व को हमें मानना होगा। स्पेन्सर के अनुसार, विज्ञान जब कारण के पीछे कारण के खोज की चेष्टा करता है, तब इस अज्ञेय को मान लेने को बाध्य होता है। पृथ्वी के धर्मशास्त्रों ने भी इसे स्वीकार कर लिया है।

अज्ञेयतावाद

स्पेन्सर के "समन्वयी दर्शन" के प्रथम खण्ड का नाम है "मूल सूत्रावली" (First Principles)। स्पेन्सर के अनुसार मिथ्या के पीछे कोई सत्य अवश्य होगा। जगत में धर्म के सम्बन्ध में मनुष्य ने नाना प्रकार की धारणाएं बनाई हैं और समय के साथ कितने ही धर्म परिवर्तित हुए हैं। परन्तु इस परिवर्तन के बावजूद धर्म में कहीं सत्य अवश्य निहित है, जिसके कारण धर्म ने मनुष्य के मन को सदा आकर्षित किया है और उस पर अपना प्रभाव विस्तार

किया है। फिर भी, तर्क की कसौटी पर, सृष्टि के सम्बन्ध में किसी धर्ममत को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता के रूप में न ग्रहण करने पर जगत के प्रथम कारण के संबंध में कुछ कहा नहीं जा सकता। कारण का भी कारण होगा ही। ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता के रूप में ग्रहण करने पर भी यह प्रश्न रह जाता है कि वह स्वयम्भू किस प्रकार से हैं अथवा हुए। परमतत्व के सम्बन्ध में धर्मशास्त्र ने जो कुछ कहा है, वह हृदयग्राह्य होने पर भी युक्तिग्राह्य नहीं है।

स्पेन्सर ने दिखलाया है कि केवल धर्मशास्त्र ही नहीं, विज्ञान के मूलतत्व की चर्चा करते हुए भी वह बुद्धि के बहिर्भूत हो जाता है। जड़ (Matter) क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हम देखते हैं कि इसे अविभाज्य भी नहीं कहा जा सकता और यह भी कल्पना नहीं की जा सकती कि इसके विभाजन का कहीं अन्त है। जान यह पड़ता है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने पर भी वह पुर्नविभाज्य है। देश-काल के सम्बन्ध में भी यही बात है। गति भी हमारे निकट रहस्यमय है; क्योंकि देश, काल और जड़ इन तीनों को आश्रित कर ही गति है। जड़ का विश्लेषण कर हम पाते हैं शक्ति (Force) परन्तु शक्ति का स्वरूप हमारे निकट अज्ञेय है।

जड़ जगत से मनोजगत पर आने से भी हमारी समस्या की समाप्ति नहीं होती, बल्कि समस्या और जटिल हो उठती है। विज्ञान के मूलतत्व वास्तव जगत के प्रतिबिम्ब हैं; परन्तु प्रतिबिम्ब के पीछे वास्तव जगत हमारे निकट अज्ञेय है। किसी पदार्थ की यथार्थ प्रकृति जानने का कोई उपाय नहीं है। इसलिये, एकमात्र दर्शन जो सम्भव है, वह है अज्ञेयतावाद (Agnosticism)।

स्पेन्सर के अनुसार अज्ञेयता का कारण है, ज्ञान की आपेक्षिकता (Relativity of all knowledge)। वस्तु जगत को जानने के लिये ही बुद्धि है। इसलिये वस्तु जगत की सीमा के पार बुद्धि को संचालित करने से रहस्य की ही सृष्टि होती है, किसी सिद्धान्त पर उपनीत नहीं हुआ जा सकता। विचार अथवा मनन का अर्थ ही है सम्बन्ध स्थापन। इसलिये सम्बन्ध को छोड़कर बुद्धि और कुछ प्रकाशित नहीं कर सकती। मिथ्या अथवा आपेक्षिकता की भित्ति के रूप में परम सत्य वर्तमान है। परन्तु इस परम सत्य को जानने का कोई उपाय नहीं है।

उक्तमत को ग्रहण करने पर धर्म और विज्ञान का मिलन असम्भव नहीं है। परस्पर विरोधी मतों के बीच से ही सत्य आत्म-प्रकाश करता है। विज्ञान को यह स्वीकार करना होगा कि इसके नियम केवल आपेक्षिक वहिर्जगत के लिये ही प्रयुज्य हैं; और धर्म को भी यह स्वीकार करना होगा कि यह युक्तिसम्मत पौराणिक मत छोड़ और कुछ नहीं है। धर्म के लिये उचित है, ईश्वर को वृहत् मानव के रूप में चित्रित न करना, और विज्ञान का कर्त्तव्य है ईश्वर को अस्वीकार न करना, बल्कि जड़वाद को अस्वीकार करना। एक अज्ञेय शक्ति को स्वीकार कर लेने से ही सब धर्मों के अन्तर्निहित सत्य को पहचाना जा सकेगा। इस स्वीकृति से ही दर्शन का प्रारम्भ है।

अज्ञेय परम (Unknowable Absolute) के अस्तित्व के संबंध में युक्तिसिद्ध प्रमाण के अतिरिक्त स्पेन्सर ने अनुभव से भी प्रमाण का प्रयोग किया है। लॉक् और ह्यूम की भांति संवेदन (Sensation) और धारणा (Idea) के पार्थक्य को उन्होंने भी दिखाया है। संवेदन स्पष्ट है और

हमारी इच्छाधीन नहीं हैं। परन्तु धारणा अस्पष्ट है और हमारी इच्छाधीन है। संवेदन बहिर्जगत् के सम्बन्ध में हमें जो ज्ञान देता है, उससे ऐसा जान पड़ता है कि कोई शक्ति हमारे ऊपर क्रिया कर रही है। अर्थात् हमारे बाहर मानो 'कुछ' है और ऐसा लगता है कि वह हमारे निकट आत्मप्रकाश कर रहा है। इस 'कुछ' के अस्तित्व को हमें स्वीकार करना पड़ेगा, यद्यपि इसके स्वरूप को हम जान न पायेंगे। स्पेन्सर के अनुसार यह स्थूल वास्तववाद नहीं है, बल्कि प्रतिफलित वास्तववाद (Transfigured Realism) है।

हमारी धारणाओं में कोई योगसूत्र है, इसीलिये ज्ञान सम्भव हो सका है इस विषय में स्पेन्सर काण्ट के सहित एकमत हैं। परन्तु यह योगसूत्र मन की ही देन है, स्पेन्सर ने काण्ट की भांति इसे स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार हम इसे अनुभव के द्वारा प्राप्त करते हैं। जितने ही बार दो घटनाओं को हम एक के बाद एक घटित होते देखतें हैं, उतना ही हमारे लिये उनको पृथक् करके देखना असंभव हो जाता है। हमारे मन का अभ्यास प्रत्येक नवीन अनुभव को पुरानी अनुभव की स्मृति के साथ जोड़ लेता है। यह केवल व्यक्तिगत जीवन में घटित होता है, ऐसा नहीं, वंशपरम्परा से यह चलता रहता है। अर्थात् किसी व्यक्ति का निजी अनुभव न होते हुए भी अपने पूर्वजों के अनुभव से वह प्राप्त कर सकता है। परन्तु अन्त तक यह अनुभूतिलब्ध ही है, इस प्रकार स्पेन्सर ने काण्ट के अनुभव-निरपेक्ष ज्ञान (Transcendentalism) और अंग्रेजी अनुभववाद (Empiricism) के समन्वय की चेष्टा की है।

विकासवाद

अज्ञेय तत्व का निर्देश कर स्पेन्सर ने कहा कि अतिविज्ञान हमें और कुछ दे नहीं सकता। इसलिये अतिविज्ञान (Metaphysics) का त्याग कर, विज्ञान के सिद्धान्तों को समन्वित करना ही दर्शन का कर्तव्य है। सबसे निम्न स्तर का ज्ञान विच्छिन्न घटनाओं की समष्टि मात्र है। इसमें समन्वय नहीं है। विज्ञान इसके वाद का स्तर है। विज्ञान के स्तर पर ज्ञान का आंशिक समन्वय होता है। परन्तु ज्ञान का पूर्ण समन्वय एकमात्र दर्शन में ही होता है। यह पूर्ण समन्वय एक ऐसे सार्वभौम नियम पर प्रतिष्ठित होगा, जो जीवन की सब अनुभूतियों की भित्तिस्वरूप हो—और जो सब ज्ञानों के मूल लक्षणों को प्रकाशित करता हो। क्या इस प्रकार का कोई सार्वभौम नियम है ?

पदार्थ-विद्या (Physics) में अनेक सिद्धान्त हैं, जैसे,—पदार्थ का क्षय नहीं होता, शक्ति का परिमाण निर्दिष्ट है, गति अविराम है तथा उसमें छन्द होता है, आदि। इन सिद्धान्तों में उस प्रकार के सार्वभौम नियम या तत्व का आभास हमें मिलता है। प्रकृति के सब कुछ में छन्द पाते हैं। आलोक का कम्पन, समुद्र तरंग का आन्दोलन, ग्रह-नक्षत्रों का परिभ्रमण ऋतु का परिवर्तन, यहां तक कि जातियों का उत्थान और पतन—इन सबमें छन्द हैं। इन नियमों में भी प्रधान है गतिशीलता। क्योंकि जो गतिरहित है, उसमें छन्द नहीं हो सकता। परन्तु गतिशीलता वस्तु का धर्म है; जड़ जगत में यह प्रधान होते हुए भी प्राणी-जगत् की व्याख्या यह नहीं कर सकती। गति प्राण का सन्धान नहीं दे सकती। प्राण-जगत में हम पाते हैं जन्म,

वृद्धि और मृत्यु। क्या जन्म और मृत्यु के पीछे कोई सार्वभौम विधान काम करता है ? जन्म जैसे हमारे लिये अदृश्य और अनजाने से आविर्भाव है, मृत्यु भी उसी प्रकार हमारे निकट अदृश्य और अनजाने में तिरोभाव है।

स्पेन्सर ने दिखलाया कि विश्वजगत् के जड़ और प्राण सब में से एक ही सार्वभौम तत्व प्रकाशित होता है। यह तत्व है अभिव्यक्ति या क्रमविकास। इस विकास (Evolution) के तत्व की व्याख्या के लिये ही स्पेन्सर ने चालीस वर्ष मनन कर दश खण्डों में एक पुस्तक की रचना की। स्पेन्सर के अनुसार विकास जड़ की क्रम परिणति है। इसमें अनिर्दिष्ट, असम्बद्ध अभिन्न अवस्था से जड़ क्रम से निर्दिष्ट, सुसंबद्ध तथा विभिन्नता में परिणत होता है। नीहारिका पुञ्ज से ग्रह की सृष्टि है, पृथ्वी में समुद्र और पर्वत की सृष्टि है, धातव पदार्थों के समन्वय से उद्भिज की सृष्टि है, और भ्रूणावस्था से रक्त, अस्थि, ग्रन्थि और स्नायु के विकास के बीच से मनुष्य की परिणति है। पुनः मनुष्य जीवन में संवेदन और स्मृति के संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति है। इस ज्ञान की परिणति विज्ञान में है, और विज्ञान की परिणति दर्शन में है। दूसरी ओर परिवार से क्रमशः राष्ट्र की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार का विकास ही जड़ की क्रम परिणति है। अंशगण, सम्बन्धयुक्त और समन्वित होकर पूर्णता उत्पन्न करते हैं। अंश और पूर्ण में इस प्रकार का जो सम्बन्ध है, वह पारस्परिक है। अंश अपनी स्वतन्त्रता का कुछ त्याग करता है और वह प्राप्त करता है पूर्ण पर निर्भर रहने का अधिकार। जगत् के सर्वत्र, सब विभागों में यह विकास मिलता है। कुछ अर्थपूर्ण शब्दों से कितनी ही भाषाओं का जन्म हुआ है; ग्राम्यजीवन की गाथाओं से कितने साहित्यों की सृष्टि हुई है।

इस विकासतत्व को मूलतत्व के रूप में ग्रहण कर स्पेन्सर ने इसका प्रयोग, जीवविज्ञान, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान तथा नीतिविज्ञान के क्षेत्रों में किया है। इनमें जिन नियमों को हम पाते हैं, वे उस सार्वभौम नियम, 'विकासवाद' के ही विशेष प्रकाश हैं। 'जीवन' से क्या बोध होता है, इसकी आलोचना स्पेन्सर ने "समन्वयी दर्शन" के दूसरे और तीसरे खण्ड में की है। स्पेन्सर के अनुसार, वाह्यजगत के साथ शरीर की संगति रखना ही जीवन है। हमारी प्राणशक्ति वाह्य घटनाओं के छन्द के साथ निरन्तर अपने छन्द की रक्षा कर चलती है। छन्द जितना सर्वांग सुन्दर होगा, उतना ही जीवन का भी पूर्ण प्रकाश होगा। परिवेश (Environment) प्राणशक्ति के विकास को प्रभावित करता है। इसलिये शरीर जब बाहर की प्राकृतिक शक्तियों के साथ संगति रखकर चलने की चेष्टा करता है, तो उसके परिवेश के अनुयायी अपने को भी कुछ परिवर्तित करना पड़ता है। इस प्रकार वाह्यशक्ति के प्रभाव से शरीर और स्वभाव में जो परिवर्तन होता है, वह वंश-परम्परा से पिता से पुत्र के अन्दर सञ्चालित होता है। इसलिये हम देखते हैं कि डारविन का यह सिद्धान्त कि सृष्टि के नूतनत्व में केवल वाह्यजगत् की शक्ति का ही प्रभाव है, सत्य नहीं है। इस नूतनत्व में वंशानुक्रमिक स्वभाव की क्रिया भी वर्तमान है।

मनोविज्ञान

इसके बाद स्पेन्सर ने मनोविज्ञान के तत्व की आलोचना की है। मनोविज्ञान का विषय है मनुष्य के अन्तर्जीवन के तथ्य। अनुभूति, धारणा, आवेग इच्छा आदि मानसिक व्यापारों का विश्लेषण ही मनोविज्ञान का कार्य

है। मन में जो चेतना (Consciousness) है, वही, बाहर, शरीर में स्नायु की क्रिया के रूप में प्रकाश प्राप्त करता है। अन्तर्जगत के सम्बन्ध वाह्य जगत के सम्बन्धों के साथ संगति रखकर चलते हैं। यही मानसिक क्रिया है। हमारे शरीर के ऊपर वाह्यजगत की क्रिया जब विभिन्न और असंख्य रूप में दिखाई देती है, तो शरीर परिवेश (Environment) के साथ संगति रखकर चल नहीं पाता। तब इस छन्द रक्षा के लिये ही असंख्य, विभिन्न संवेदनों को क्रमबद्ध करने की और व्यवस्थित करने की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार बहिर्जगत के साथ अन्तर्जगत की छन्द-रक्षा के प्रयोजन से ही चेतना (Consciousness) सृष्ट होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि चैतन्य, अनुभूति, धारणा आदि का एक समावेश मात्र है। जिस योगसूत्र का अवलम्बन कर वे एकत्रित होते हैं, वही चैतन्य है। इस चैतन्य को हम जान नहीं सकते, हम केवल इसके वाह्य प्रकाश को ही जान पाते हैं। जिन मानसिक घटनाओं को लेकर चैतन्य का प्रकाश है, उनका विश्लेषण करने से हम पायेंगे कि स्नायविक प्रतिक्रियाएं ही इनके उपादान हैं। प्रत्यक्ष (Perception) से हमें जो बोध होता है, वह अनुभूति द्वारा संगठित है। चैतन्य के भीतर भी क्रमविकास होता है; और इसके विकास के इतिहास के बीच ही से इसे जानना होगा। इस विकास के इतिहास में हम देखते हैं कि परावर्तक क्रिया (Reflex-action) से सहजात प्रवृत्ति (Instinct) का उद्भव है, उससे स्मृति (Memory) उत्पन्न होती है और उससे युक्ति (Reason)की सृष्टि होती है। यह विकास परिवेश (Environment) की जटिलता की वृद्धि का ही फल है। जटिलता जब इतनी बढ़ जाती है, कि, सहजात प्रवृत्ति के द्वारा, उसके साथ छन्द की रक्षा कर चलना हमारे लिये असम्भव हो जाता है, तो इच्छाशक्ति (Volition) का विकास होता है। इस प्रकार परिवेश के प्रभाव से क्रोध, सहानुभूति, न्याय-अन्यायबोध आदि जीव में उत्पन्न होकर वंशानुक्रम से प्रसारित होते रहते हैं। अर्थात्

हमारे पूर्व पुरुषों ने परिवेश के साथ संघर्ष के फलस्वरूप जिन मनोवृत्तियों को प्राप्त किया था, उत्तराधिकार-सूत्र से हम उनके अधिकारी हो गये हैं।

समाजविज्ञान

समाजविज्ञान (Sociology) ही स्पेन्सर का प्रिय विषय था। और इस संबंध में उनकी अनेक और विस्तृत रचनाएं हैं। मानव इतिहास से जो बोध होता है, वह कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की जीवनी नहीं है, और न वह घटनाओं का धारावाहिक विवरण ही है। स्पेन्सर के अनुसार यह एक विज्ञान है और इसलिये कार्य-कारण सम्बन्ध के बीच से विकास के रूप में ही इसका परिचय है। वैज्ञानिक की दृष्टि से समाज को देखना सहज काम नहीं है, क्योंकि, शिक्षा, धर्म, राजनीति, आर्थिक अवस्था, व्यक्तिगत कारण इत्यादि के द्वारा नाना प्रकार के संस्कारों का जन्म होता है, और वे मनुष्य के मन को आवृत्त कर देते हैं, और मनुष्य के लिये निरपेक्ष दृष्टि असम्भव हो जाती है। जीवनव्यापी साधना के द्वारा ही समाज के इतिहास को समाज-विज्ञान में परिणत किया जा सकता है। स्पेन्सर ने स्वयं समाज-विज्ञान के उपादान संग्रह के लिये तीन कार्यकर्ताओं को नियुक्त किया था।

स्पेन्सर के अनुसार समाज जीवदेह (Organism) की भांति है। जीवदेह की भांति ही इसकी वृद्धि है और वृद्धि के साथ इसकी जटिलता की भी वृद्धि होती है। जटिलता-वृद्धि के साथ-साथ समाज के विभिन्न अंशों की परस्पर निर्भरता की भी वृद्धि-प्राप्त होती रहती है। जीव शरीर की भांति समाज भी सुसम्बद्ध विभिन्नता में प्रकाशित होता रहता है। जीविका उपार्जन के असंख्य मार्ग और विभिन्न व्यवसायों के बीच, श्रम-विभाग के बीच और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध के बीच से हम इस विकास को ही देखते हैं! धर्म में भी हम देखते हैं कि पहिले के असंख्य देवताओं तथा उप-देवताओं की धारणा क्रमशः एक-ईश्वर की धारणा में परिणत होती है। आदिम मानव की, ईश्वर के सम्बन्ध में जो प्रथम धारणा थी, उसको एक

क्षमताशील उपदेवता ही कहा जा सकता है। उस समय मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा को सुगम करने के लिये ही इस क्षमताशाली उपदेवता को प्रसन्न रखने की चेष्टा करता था। इसी कारण से मनुष्य राजा को ऐश्वरिक आदेश प्राप्त शासनकर्ता समझता था।

नीतिविज्ञान

नीतिविज्ञान (Ethics) में भी स्पेन्सर ने एक नये दृष्टिकोण को उपस्थित किया है। मानव-चरित्र में न्याय-अन्याय बोध की वैज्ञानिक भित्ति के निर्देश की प्रयोजनीयता है। नीति की भित्ति अप्राकृत विधि में नहीं, प्रकृति के विधान में ही है। मानव-चरित्र को समझने के लिये, उसको आंशिक रूप में देखने से काम न चलेगा, उसको समग्ररूप में देखना होगा। शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक उपादानों को लेकर ही मनुष्य है। इसलिये मनुष्य के चरित्र विचार के समय इन उपादानों का ही स्मरण करना होगा। इस विचार में हम देखेंगे कि उद्देश्य की प्राप्ति के लिये ही मनुष्य के सब कार्य हैं। इसलिये जो जीवन आत्मप्रकाश के द्वारा और दीर्घ-काल तक सुखभोग के द्वारा अपने को सार्थक बना सकता है, मनुष्य के लिये, वही नीतिविज्ञान को दष्टि से भी श्रेष्ठ है। जीवन के इस उद्देश्य को सार्थक बनाना ही आदर्श चरित्र का लक्षण है। विकास के पूर्ण प्रकाश से समाज में शाश्वत शान्ति आयेगी। मनुष्य दूसरों के आत्मविकास में बाधा न डाल-कर अपने आत्मविकास में सफलता प्राप्त करेगा। स्वार्थ और सार्थकता में कोई विरोध न रह जायगा। जीवन के इस विकास के मार्ग में जो बाधा है, वही अन्याय है, वही अकल्याण है।

स्पेन्सर के अनुसार सुख प्राप्ति में ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है। सुख (pleasure) ही मनुष्य का एकमात्र काम्य है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति इस सुख का अधिकारी है; समाज इस सुख प्राप्ति का साधन मात्र है। पहिले मनुष्य स्वार्थ पर रहता है और इसलिये उसको नीति का

विधान मानना पड़ता है। इस विधान के बल से उसको परस्पर-सहयोग और संयम सीखना पड़ता है। इस प्रकार उसमें सहानुभूति, न्यायपरता, उदारता आदि धारणाएं उत्पन्न होती हैं। तब वह समझ पाता है कि परार्थपरता के बीच से ही वह अपनी काम्यवस्तु सुख का लाभ कर सकता है। इसलिये हम देखते हैं कि जिसका चरित्र जितना पूर्णरूप से विकसित या उन्नत होता है, उसके लिये उसी परिमाण में सुख लाभ सम्भव है। स्पेन्सर ने बेन्थम और मिल के उपयोगितावाद के साथ विकासवाद को मिश्रित कर अपने नीति-विज्ञान को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है।

स्पेन्सर के नैतिक आदर्श को वास्तव में परिणत करने के लिये एक ऐसे परिवेश की आवश्यकता है, जहां प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर की सुप्त सम्भावना को सहज ही प्रकाश में ला सके। इसलिये नीति की दृष्टि से यह स्वीकार करना होगा कि मनुष्य को, दूसरों की इच्छा का विरोध न उत्पन्न करते हुए, अपनी इच्छा के अप्रतिहत प्रकाश की सुविधा होनी चाहिये। दोनों पक्षों की बाधाहीन इच्छा से ही मनुष्य के अधिकारों (Rights) का जन्म हुआ है। इसलिये स्पेन्सर के मतानुसार, राष्ट्र के द्वारा समाज का पूर्ण नियन्त्रण नीति सम्मत नहीं है। आभ्यान्तरीण अव्यवस्था अथवा वहिःशक्ति का आक्रमण, इन दोनों के विरोध की अवस्था को छोड़कर अन्य किसी अवस्था में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को क्षुण्ण करना राष्ट्र के लिये उचित नहीं। अस्वाभाविक उपाय से मनुष्य के जीवन को किसी विशेष सांचे में ढाल कर, नियन्त्रित करने की चेष्टा में कोई कल्याण नहीं है। स्वाभाविक अभिव्यक्ति के नियम से ही मनुष्य आत्मविकास के मार्ग पर अपनी सार्थकता को प्राप्त कर सकेगा, कृत्रिम नियन्त्रण के द्वारा इस स्वाभाविक अभिव्यक्ति की गति में अड़चन डालने से आत्मविकास और परम कल्याण की प्राप्ति असम्भव हो जायगी।

पठनीय

हर्बर्ट स्पेन्सर लिखित :--

First Principles
Principles of Biology.
Principles of Psychology.
Principles of Sociology.
Principles of Ethics.
Social Statics.
Education.
The Study of Sociology.
The Man versus the State.
Essays.

सहज-प्रवेशिका--

Will Durant--The Story of Philosophy.
W. H. Hudson--The Philosophy of Herbert Spencer.

आलोचनात्मक--

J. Royace--Herbert Spencer.
A. E. Taylor--Herbert Spencer.
Freaderic Harrison--Herbert Spencer Lecture.
J. A. Thomson--Herbert Spencer.

———

पारिभाषिक शब्द

Absolute—परम, सम्बन्धातीत
Absolute totality—परम पूर्णता
Abstract—अमूर्त
Abstraction—वियोजन
Agnosticism—अज्ञेयतावाद
Analytic Judgment—विश्लेषक वाक्य
Antithesis—प्रतिवाद
Apperception—परा-पत्यक्ष
A priori—बुद्धिगत
Archetype—आदिरूप
Association of Ideas—भावानुसंग
Categories—सार्विक धारणा
Causal Relation—कार्य-कारण सम्बन्ध
Coexistence—सह-अवस्थान
Complex Ideas—यौगिक धारणा
Conceptual content—प्रत्यय का विषय
Concrete—मूर्त
Contingent truth—आपतिक सत्य
Contradiction—विरोध
Criticism (Kant)—विचारवाद
Deduction—निगमन
Deductive—निगमनात्मक
Definition—निर्वचन
Determination—निर्धारण
Direct Realism—साक्षात् वास्तववाद
Discursive—खण्ड-धर्मी
Dogmatism—विचार-निरपेक्ष स्वीकृति
Double-Aspect Theory—द्विभंगिवाद

Dualism--द्वैतवाद
Egoestic Morality--अहंवाद
Emotion--भावावेग
Empiricism--अनुभववाद
Essence--सत्ता
Extended Substance--
विस्तृत पदार्थ
Highest Good--परम कल्याण
Hypothesis--कल्पितार्थ
Idealism--भाववाद
Identity--ऐकात्म्य
Idols--विकृति
Induction--आगमन
Innate Ideas--सहजात धारणा
Interactionism--
क्रिया-प्रतिक्रियावाद
Internal Relation--आन्तरीण
सम्बन्ध
Interpenetrability--आन्तर्प्रवेश
Introspection--अन्तर्दर्शन
Intuition--अतिमानस
Judgment--वाक्य
Law of Continuity--
निरवच्छिन्नता का नियम
Logical Necessity--
युक्ति की अनिवार्यता
Law of Non-contradiction--
अविरोध का नियम
Macrocosm--विराट
Materialism--जड़वाद
Materiality--वस्तुत्व
Matter--जड़पदार्थ
Mentalism--मानसवाद
Metaphysics--अतिविज्ञान
Microcosm--अनु
Modes--प्रकार
Monad--चेतन-परमाणु
Monodology--चेतन-परमाणुवाद
Monotheism--एक-ईश्वरवाद
Moral Sense--नैतिक बोध
Naturalism--प्रकृतिवाद
Necessity--अनिवार्यता
Noumenal World--
इन्द्रियातीत जगत
Objective--वस्तुगत
Observation--पर्यवेक्षण
Pantheism--सर्वेश्वरवाद
Parallelism--समान्तरवाद

Parallogism--भ्रमात्मक सिद्धान्त
Passivity—जाड्य
Perception—प्रत्यक्ष
Perceptual Content—प्रत्यक्ष का विषय
Phenomenal World--इन्द्रियग्राह्य जगत्
Pluralism--अनेकवाद
Polytheism--अनेक ईश्वरवाद
Positivism--प्रत्यक्षवाद
Power of Perception--ईक्षण-शक्ति
Practical Ego--संकल्पवाचक आत्मा
Practical Reason--नैतिक बुद्धि
Pre-established Harmony--पूर्वस्थापित छन्द
Primary Qualities--मूल गुण
Primitive Will--आदिम संकल्प
Pure Thing--शुद्ध पदार्थ
Rationalism--बुद्धिवाद
Realism--वास्तववाद
Reflex Action--परावर्तक क्रिया
Secondary Qualities--उपगुण
Self-conscious—आत्म-सचेतन
Self-evident Truth--स्वतःसिद्ध सत्य
Sensation--संवेदन
Sensibility--संवेदनग्राहिता
Simple Ideas--मौलिक धारणा
Solidity--घनत्व
Spiritual--आध्यात्मिक
Subjective--आत्मगत
Substratum--आधार
Succession--पर्यायक्रम
Supernatural--अतिप्राकृत
Synthetic Judgment--संयोजक वाक्य
Synthetic Principle--समन्वयी शक्ति
Teleology—उद्देश्यवाद
Theology—धर्मशास्त्र
Theoretical Ego—ज्ञानवाचक आत्मा
Thesis--वाद
Thing-in-itself--पदार्थ-स्वरूप
Transcendental--अनुभव-निरपेक्ष
Ultimate entity--परम पदार्थ
Understanding—बुद्धि
Universal--सार्विक, सार्वभौमिक
Utilitarianism—उपयोगितावाद